राजनीति प्रवेशिका

: १ :

राज्य-संस्था का स्वरूप

१

आधुनिक संसार का प्रत्येक नागरिक किसी-न-किसी राज्य की प्रजा है। क़ानूनन वह राज्य-संस्था की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य है। उसकी जीवनविधि की रूप-रेखा राज्य-संस्था के नियोजित किये हुए आदर्श-नियमों से ही निश्चित रहती है। ये निर्देश ही क़ानून हैं, और इनको अपनी सीमा में रहनेवाले सब लोगों पर लागू करने की शक्ति ही राज्य-संस्था का मूल तत्व है। जहाँ अन्य सब संस्थायें स्वनिर्मित होती हैं और किसी व्यक्ति के लिए उसके नियम तभी लागू हो सकते हैं जब वह अपनी मरज़ी से उनका सदस्य बने; लेकिन यदि वह एक बार किसी राज्य का निवासी हो जाता है तो उसको क़ानूनन राज्य के नियमों को मानने के सिवाय दूसरा चारा नहीं रहता। क़ानूनन, उसके लिए इन आज्ञाओं का पालन करना दूसरी किसी संस्था के नियमों के पालन करने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। कह सकते हैं कि आधुनिक समाज-रूपी भवन का शिखर राज्य है। यही इसकी विशेषता है। समाज

में जितने प्रकार के संघ या संगठन हैं उन सबमें इसकी सत्ता सर्वोपरि है।

इस प्रकार राज्य लोगों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने की एक विधि है। राज्य के स्वरूप की छान-बीन करके देखने से पता चलता है कि मनुष्यों को आचरण सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों के द्वारा अपनी जीवन-विधि को संचालित करना ज़रूरी है, उनको सत्ता-पूर्वक लागू करने का तरीक़ा ही राज्य है। राज्य हमें चोरी न करने की आज्ञा देता है; वह हमें उसके आदेशों की अवज्ञा के लिए सज़ा देता है। वह विधि-निर्देशों को निश्चित कर देता है, और उनका पालन कराने के लिए बल का प्रयोग करता है। उसके दृष्टिकोण से उन विधि-निर्देशों की प्रामाणिकता स्वयं निर्मित है। वे क़ानूनन मान्य हैं इसलिए नहीं कि वे अच्छे, या विवेकपूर्ण हैं, बल्कि इसलिए कि वे उसके आदेश हैं। समाज की सर्वोपरि शक्ति के ये क़ानूनी आदेश हैं जिनके द्वारा मनुष्य को अपना आचार-व्यवहार रखना चाहिए।

परन्तु विधि-निर्देश न अपने आपको स्वयं प्रकट करते हैं न स्वयं लागू होते हैं। किसी-न-किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय ने उनको बनाने की इच्छा की है, और किसी न किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय को उनका पालन कराना पड़ता है। जब हम आज-कल की राज्य-संस्थाओं को देखते हैं तो हमें सब जगह एक दृश्य दिखाई देता है। हम देखते हैं कि एक सुनिश्चित प्रदेश में बहु-संख्यक मनुष्य सदा कुछ दूसरे अल्पसंख्यक मनुष्यों की आज्ञा पालन करते हैं। चाहे ग्रेट-ब्रिटेन की तरह यह अल्पसंख्यक

मनुष्य (पार्लमेण्ट-समेत राजा) सर्वाधिकार-सम्पन्न हों, चाहे संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की तरह उनके लिए आज्ञापालन कराये जाने के विषय तथा पद्धतियाँ दोनों सीमाबद्ध कर दी गई हों; फिर भी देखा जाता है कि यह इस प्रकार के हैं कि यदि कोई उन विधि-निदेशों का भंग करे तो यह थोड़े से मनुष्य अपनी सत्ता की रक्षा करने के लिए समस्त आवश्यक बल-प्रयोग कर सकते हैं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि प्रत्येक राज्य-संस्था सरकार और प्रजाजन में बंटा हुआ एक प्रदेश-बद्ध समाज है। सरकार—राज्य के अन्दर—उन व्यक्तियों का समुदाय है जो राज्य-संस्था के आधारभूत विधि-निदेशों को लागू करते हैं; और वे इनके पालन कराने के लिए बलप्रयोग करने का अधिकार रखते हैं। परन्तु इससे भिन्न, उस प्रदेश-बद्ध समाज के अन्दर, व्यक्तियों का किसी प्रकार का भी अन्य संगठन या समुदाय बलप्रयोग करने का अधिकार नहीं रखता।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राज्य-संस्था में एक ऐसी इच्छाशक्ति है जो अन्य सब इच्छा-शक्तियों के ऊपर क़ानूनन सर्व-प्रधान है। वह समाज के अंतिम निश्चयों व निर्णयों को करती है। शास्त्रीय वाक्य में कह सकते हैं कि वह सर्वोपरि इच्छाशक्ति है। न वह दूसरी किसी इच्छा-शक्ति से आज्ञायें पाती है,न अन्ततः अपनी सत्ता किसी दूसरी शक्ति के हाथ में छोड़ सकती है। उदाहरणतः ऐसी इच्छाशक्ति ग्रेट-ब्रिटेन में पार्लमेण्ट समेत राजा की है। उसके प्रदेश की सीमा के अन्दर, वह जो कुछ निर्णय करती है वह उस प्रदेश के अन्दर रहनेवाले

सब निवासियों पर बाध्य होता है। वे भले ही उसके निर्णयों को अनैतिक या अबुद्धिपूर्ण समझें, फिर भी क़ानूनन उसका पालन करने के लिए बाध्य हैं। यदि ब्रिटेन का कोई प्रजाजन अपनी धर्मसंस्था (चर्च) के किसी निर्णय को पसंद न करे, तो वह उस को छोड़ सकता है; धर्मसंस्था अपने निर्णय को ज़बरदस्ती उससे मनवा नहीं सकती। परन्तु, ब्रिटेन का कोई प्रजाजन आय-कर सम्बन्धी क़ानून को पसंद न भी करे, तो भी वह क़ानूनन उसका पालन करने के लिए बाध्य है। यदि वह उस क़ानून की सत्ता के विरोध करने का प्रयत्न करेगा, तो तुरन्त ही उस प्रयत्न का फल भोगने के लिए, किसी न किसी रूप में, बलपूर्वक मजबूर किया जायगा।

इस प्रकार राज्य-संस्था व्यक्तियों का एक ऐसा समाज है जो एक निश्चित जीवन-विधि से चलने के लिए, आवश्यक हो तो बल-प्रयोग से भी, विवश है। समाज में सारा आचरण उस विधि के अनुसार ही होना चाहिए। समाज के स्वरूप को निर्धारित करने वाले नियम ही राज्यसंस्था के क़ानून (विधान) हैं; और, स्पष्टतया, यह अन्य समस्त नियमों की अपेक्षा आवश्यक रूप से प्रधानता रखते हैं, अर्थात् सर्वोपरि हैं। इस समाज में जो व्यक्ति नियम बनाते और उनका बलपूर्वक पालन करवाते हैं वे सरकार (शासन) कहलाते हैं। और नियमों का वह भाग जो यह निर्धारित करता है कि (क) इस प्रकार के नियम किस प्रकार बनाए जाने चाहिएं (ख) वे किस प्रकार से बदले जा सकेंगे (ग) उनको कौन बनाएगा, राज्य-संस्था का शासन-विधान है।

२

यह राज्य-संस्था को शुद्ध क़ानूनी व्यवस्था की दृष्टि से देखना हुआ। यह तो केवल इस बात का वर्णनमात्र है कि किसी आधुनिक समाज में सामाजिक सम्बन्ध एक दूसरे से किस प्रकार मिले हुए या व्यवस्थित हैं; इसमें इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि वर्तमान पद्धति का विकास किस प्रकार से हुआ है, उसके क्या-क्या प्रयोजन सिद्ध होते हैं, और उसके काम का महत्व कितना है और उसके साथ ख़तरे क्या-क्या हैं।

स्पष्टतः, ये सब बातें महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान राज्य-संस्था का स्वरूप उस इतिहास का परिणाम है जिसमें से होकर राज्य-संस्था गुज़री है, और उस इतिहास की दृष्टि से देखे बिना समझ में नहीं आसकेगा। राज्य-संस्था की शक्ति बिना प्रयोजन या उद्देश्य के प्रयुक्त नहीं होती। वह कुछ निश्चित उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए काम में लाई जाती है, और उसके नियम, समय विशेष पर अच्छे समझे जानेवाले किन्ही उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उन लोगों द्वारा, वस्तुतः, परिवर्तित भी कर दिये जाते हैं, जिसके पास उसकी शक्ति को काम में लाने का क़ानूनी अधिकार है। और, इस प्रकार की राज्य-संस्था किन-किन उद्देश्यों को पूर्ण करना चाहती है, और उनको किस तरीक़े से पूर्ण करना चाहती है, इन प्रश्नों को हम जिस दृष्टि से देखेंगे, उसी पर उसके महत्व और ख़तरों सम्बन्धी हमारे विचार भी अधिकांश निर्भर रहेंगे।

यहाँ मैं राज्य-संस्था का इतिहास विस्तार से नहीं बता सकता।

केवल यही एक महत्वपूर्ण बात बता देना पर्याप्त होगा, कि राज्य-संस्था का यह स्वरूप कि वह सर्वोपरि संस्था है, ऐतिहासिक घटनाओं की एक लम्बी शृङ्खला का परिणाम है। इन घटनाओं में सबसे महत्वपूर्ण घटना यह थी कि (यूरोप में) रिफ़ॉर्मेशन के युग में एक ऐसी श्रेणी के संगठन को तलाश करने की आवश्यकता हुई जो अपनी-अपनी सत्ता की प्रधानता का दावा करनेवाली संस्थाओं के दावों के विषय में अन्तिम निर्णय दे सके। अन्य सब संगठनों की अपेक्षा राज्य-संस्था ने प्रधानता इस कारण पाई कि उसने उस समय व्यवस्थापित शान्ति की इतनी आशा दिलाई जितनी कि दूसरा कोई संगठन दिलाने का दावा नहीं कर सका था। धार्मिक मतों के पारस्परिक विरोध से लड़ाई-झगड़े के सिवाय कोई सत्परिणाम दिखाई नहीं देता था, आर्थिक संगठन स्वरूपतः अपने-अपने स्थान पर बहुत छोटे-छोटे और पृथक्-पृथक् थे और वे व्यापक नियम बना सकने योग्य न थे उस समय की संस्थाओं में से, राज्य-संस्था ही एक ऐसी निकली जो ऐसे विधि-निदेशों को स्थापित करने में समर्थ हुई जिनका सारी जनता सम्मान करे। वह जीवन-विधि को व्यवस्थित करने में समर्थ हुई, क्योंकि, यदि उसकी आज्ञायें न होतीं तो बिलकुल व्यवस्था ही न रहती। यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं ने लोगों की निष्ठा को अपनी ओर आकर्षित करने का कम तीव्रता से प्रयत्न नहीं किया, फिर भी राज्य-संस्था ही विजयी हुई उसकी विजय मनुष्यों से बलपूर्वक अपनी इच्छा का पालन करवाने की योग्यता में ही अन्तर्हित थी।

वह अपनी इच्छा का पालन कराने में क्यों समर्थ हुई ? इस स्थान पर हम राज्य-संस्था को शुद्ध क़ानूनी व्यवस्था की दृष्टि से देखना छोड़ देते हैं, और अब उसे दार्शनिक विश्लेषण का विषय बनाते हैं। स्पष्टतः, हमें उसे दो भिन्न-भिन्न दृष्टि-विन्दुओं से देखना चाहिए। हमें प्रथम तो यह बताना है कि राज्य-संस्था का प्रयोजन, सामान्य स्वरूप में, क्या दिखाई देता है, अर्थात् वह किसी विशेष समय जिस प्रकार के क़ानूनी विधि-निदेशों को बलपूर्वक लागू करती है वे उस प्रकार के ही क्यों होते हैं। और, हमें एक ऐसी कसौटी भी ढूँढ निकालनी है जिसके द्वारा हम यह जान सकें कि उन क़ानूनी विधि-निदेशों का स्वरूप, सामान्य शब्दों में, क्या होना चाहिए। संक्षेप में, किसी विशेष राज्य-संस्था की प्रवृत्तियाँ विशेष प्रकार की क्यों पड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए क्रान्ति से पहले के फ्रान्स के 'पुराने शासन' को ही लीजिए। उसकी विशेष-विशेष प्रकार की ही प्रवृत्तियाँ क्यों पड़ी थीं, और किन कारणों से हमें यह कहना पड़ता है कि 'पुराने शासन' के समय की फ्रान्सीसी राज्य-संस्था की कृतियाँ उस प्रयोजन के लिए अनुपयुक्त थीं, जिसके लिए राज्य-संस्थाओं का अस्तित्व होना चाहिए।

राज्य-संस्था से अमुक-अमुक कार्य-सम्पादन करने की जो मांगें की जाती हैं, उनको सन्तुष्ट करने का कर्तृत्व ही राज्य-संस्था की सत्ता है। उदाहरण के लिए उसके प्रजा-जन चाहते हैं कि उनके शरीरों और सम्पत्ति की रक्षा की जाय, तो, राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेश उस इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए प्रयुक्त किये जाते

हैं। उसके प्रजा-जन अपने-अपने ढंग से ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं, और यह नहीं चाहते कि किसी भी विशेष प्रकार के धार्मिक विश्वास पर कोई रुकावट लगाई जावे। यदि इस माँग पर किसी की भी आपत्ति नहीं हो सकती, तो राज्य-संस्था सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता को अपना एक क़ानूनी विधि-निदेश बना लेती है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का कारण केवल यह था कि उस समय के 'पुराने शासन' द्वारा स्थापित किये हुए विधि-निदेशों से उन माँगों का पूर्ण होना असम्भव था जिनकी पूर्ति राज्य के सदस्य उसकी संस्थाओं से चाहते थे।

दूसरे शब्दों में कहें तो कार्य-साधनार्थ उपस्थित की जानेवाली मांगों को पूरा करने की क्षमता ही क़ानूनी विधि-निदेश हैं। विधि-निदेश हमेशा उन लोगों की इच्छा के अनुरूप होवेंगे, जो राजनैतिक शक्ति के केन्द्र में अपनी इच्छाओं का अनुभव करवाने का ढंग जानते हैं। किसी विशेष राज्य-संस्था के क़ानून उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न होगा, और जिस हद तक मांगें स्वीकृत हो सकेंगी व भी उसी हद तक कार्य-साधक या सफल हो सकेंगे। अर्थात्, क़ानूनी विधि-निदेश बनाने के लिए राज्य-संस्था के सदस्यों की उसके सामने आनेवाली बहुसंख्यक प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं में से, कुछ चुन ली जाती हैं, और अन्य नहीं चुनी जातीं। इनको चुनने का सिद्धान्त सदा एक-सा नहीं रहता, या तो समय के अनुसार या स्थान के अनुसार यह सिद्धान्त काम में आता है। पाश्चात्य सभ्यता के मातहत किसी भी ऐसी राज्य-संस्था की हम कल्पना तक नहीं

कर सकने, जो राष्ट्रीय शिक्षा की पद्धति चलाने के लिए अपने सदस्यों पर कर नहीं लगाती हो। परन्तु डेढ़ शताब्दि पहले इस बात की कल्पना तक नहीं हो सकती थी कि इस काम के लिए किसी राज्य-संस्था को अपने सदस्यों को धन देने के लिए बाध्य करना पड़ेगा। जो माँग उस समय आवश्यक हुई, वह कालान्तर में अनिवार्य हो गई है।

यह क्यों हुआ? क्योंकि जो लोग राज्य-संस्था की सत्ता का संचालन करते हैं, उन्होंने शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति की माँग की पूर्ति करना आवश्यक या बुद्धिमत्ता-पूर्ण या न्याय-संगत समझ लिया है। परन्तु हमें इस बात का पता लगाना है कि किसी विशेष समय और विशेष स्थान पर इस प्रकार की माँग क्यों सफल होती है। स्पष्टतः, इसका उत्तर यह नहीं हो सकता कि माँग उचित थी। राज्य-संस्था ने उचित माँगों को कार्यान्वित करने से, बहुधा, इनकार कर दिया है, और ऐसी माँगों को स्वीकार कर लिया है जिनको बुद्धि थोड़े विचार से भी कभी उचित नहीं बता सकती। यह बात भी नहीं हो सकती कि उनके तत्व में बुद्धिमत्ता रही है, क्योंकि राजनीतिज्ञ लोग सदा बुद्धिमत्ता से ही काम नहीं किया करते। आवश्यकता का होना एक अधिक स्पष्ट कारण मालूम होता है। परन्तु, फिर हमें यह जानने की आवश्यकता है कि किसी विशेष समय और स्थान पर एक विशेष माँग ही राज्य-संस्था द्वारा क्यों आवश्यक समझी जाती है और दूसरी क्यों नहीं।

जिन हेतुओं से प्रेरित होकर राजनीतिज्ञ लोग काम किया

करते हैं वे निःसन्देह इतने जटिल और मिले हुए होते हैं कि उनको सरलता से बताना बहुत ही कठिन है। कोई भी एक कारण ऐसा नहीं है जिसमें अन्य कारणों का समावेश बिलकुल न होता हो। तथापि सामान्य नियम यह माना जा सकता है कि किसी विशेष राज्य-संस्था का स्वरूप, स्थूलतः, उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार का आर्थिक सङ्गठन उस राज्य-संस्था द्वारा नियन्त्रित समाज में मौजूद होगा। किसी भी प्रकार के सामाजिक सङ्गठन को देखिए, उससे मालूम होगा कि वह एक तरह से आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण पाने के लिए एक सङ्घर्ष है। क्योंकि लोगों के हाथ में यह शक्ति जिस मात्रा में होती है, उसी मात्रा में वह अपनी माँगों को कार्यान्वित करवा सकते हैं। तब क़ानून ऐसे सम्बन्धों का एक समूह बन जाता है, जिनमें उन लोगों की ज़रूरतों का क़ानूनी स्वरूप प्रकट किया जा सके। इसलिए जिस ढंग से किसी विशेष समय और स्थान पर आर्थिक शक्ति बँटी हुई होगी उसीके अनुरूप उस विशेष समय और स्थान पर लागू किये जानेवाले क़ानूनी विधि-निदेशों का स्वरूप होगा। इन परिस्थितियों में राज्य-संस्था—जिन लोगों का आर्थिक-प्रणाली पर प्रभुत्व होता है, उनकी आवश्यकताओं का मूर्त रूप है। क़ानूनी व्यवस्था एक ऐसा परदा है जिसके पीछे, जिन लोगों के आर्थिक हित दूसरे सब आर्थिक हितों पर प्रभुत्व रखते हैं, वे राजनैतिक सत्ता का लाभ उठाते हैं। राज्य-संस्था अपने कार्य द्वारा जान-बूझकर सामान्य न्यायपूर्णता या सामान्य उपयोगिता ही साधित करने का ध्यान नहीं रखती, परन्तु समाज

के प्रभावशाली वर्ग के हितों (विस्तृत अर्थ में) को साधित करने का ध्यान रखती है।

परन्तु ध्यान रहे कि इस विचारसरणि का जितना अर्थ है या यह जहाँ तक उचित है, उससे अधिक इसका तात्पर्य नहीं समझना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन में इस बात पर ही विचार किया गया है कि राज्यसंस्था के सामान्य स्वरूप का कारण क्या है, हम राज्यसंस्था के कार्यों के ब्यौरे में नहीं गए हैं। यह विचारसरणि बताती है कि स्थूलतः सम्पत्ति के स्वामित्व के साथ ही विशेषाधिकार रहते हैं और सम्पत्ति से बहिष्कार हो जाने का परिणाम होगा विशेषाधिकारों से बहिष्कार हो जाना। इससे यह पता चलता है कि समाज में सम्पत्ति के स्वामित्व का पलड़ा जिस ओर भारी होता जाता है उसीके अनुसार राज्यसंस्था के कार्यों का पलड़ा भी नए साम्य की अवस्था को क़ायम रखने के लिए परिवर्तित होता जाता है। निश्चय ही, वह परिवर्तन तत्काल तो बहुत ही कम होता है और पूर्ण तो कभी नहीं होता। ऐतिहासिक प्रगतियों में समय की शिथिलता हुआ ही करती है, जिसके कारण सारी परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन आंशिक ही होते हैं। जिन-जिन वर्गों ने शक्ति प्राप्त करली है वे उसका प्रयोग उग्ररूप से प्रायः कभी नहीं करते। उनको अपने विरोधियों को रिआयतें देकर उनकी, नई साम्यावस्था के प्रति, सहमति खरीदनी पड़ती है। और उन्हें स्वयं बहुत बार यही अनुभव करना पड़ता है कि उनका शक्ति प्राप्त कर लेना मात्र ही सन्तोषजनक है। जिस प्रकार वे पहले शक्ति से स्वयं बहिष्कृत

थे उसी प्रकार अब दूसरों को वहिष्कृत कर देने का प्रयत्न नहीं करते। परन्तु जो कोई राज्य-संस्था के क़ानूनों का अध्ययन करेगा, वह इस बात में सन्देह नहीं कर सकता कि जो वर्ग राज्य-संस्था के नाम से शासन करता है, उसकी माँगों के अनुरूप ही क़ानून होते हैं। इङ्गलैण्ड में ट्रेड यूनियन क़ानून, अमेरिका में इक़रार की स्वतन्त्रता का क़ानून और प्रशिया में कृषकों सम्बन्धी क़ानून, इन सबका इतिहास इस बात का उदाहरण है कि किस प्रकार कोई प्रभावशाली आर्थिक वर्ग अपने हितों की सबसे अच्छी तरह रक्षा करनेवाले विधि-निदेशों को बनवाने के लिए राज्य-संस्था का उपयोग करता है।

यहाँ, एक क्षण के लिए भी इस बात से इनकार नहीं किया जाता कि शासन करनेवाले वर्ग में बुद्धिमत्तापूर्वक या न्यायपूर्वक कार्य करने की इच्छा होती है। परन्तु जिन लोगों का जीवन भिन्न-भिन्न प्रकार का है, वे विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकार से ही करते हैं। और समष्टिरूप से समाज के हितसाधन के लिए कौन-कौन से विधि-निदेश अन्ततः अभीष्ट हैं, इस समस्या पर विचार करने के लिए प्रत्येक वर्ग अपने मस्तिष्क के भीतर कुछ अस्पष्ट और अर्धसंज्ञात तर्क (Major Premise) रखता है और उसी दृष्टि से विचार करता है, और इन्हींसे उसके बुद्धिमत्ता या न्यायपूर्णता सम्बन्धी विचार प्रायः बनते हैं। धनवान मनुष्य इस बात का सदा कम अन्दाज़ लगाते हैं कि सुख-प्राप्ति कराने की सम्पत्ति में कितनी शक्ति है। धार्मिक मनुष्य सदा नैतिक नियमों

पर श्रद्धा रखने के प्रभाव का अधिक अन्दाज़ लगाते हैं। विद्वान् लोग विद्वत्ता का बुद्धिमत्ता से सम्बन्ध है, इस बात को प्रायः उचित से अधिक महत्व देते हैं। हम सब अपने-अपने अनुभवों के बन्दी हैं। और चूँकि हमारे अनुभव का मुख्य भाग अपने जीवन-निर्वाह का प्रयत्न करते हुए ही प्राप्त होता है, इसलिए जिस ढंग से यह आजीविका उपार्जित की जाती है उसके अत्यधिक अनुरूप ही, क्या अभीष्ट है और क्या अभीष्ट नहीं है, इस सम्बन्धी हमारी भावनायें बनती हैं। जॉन ब्राइट फैक्ट्री-क़ानूनों की महत्ता को कभी नहीं समझ सका, क्योंकि वह खुद कारख़ानेदार होने की हैसियत से जिन अत्यन्त कटु अनुभवों को उसने प्राप्त किया था उनके विरुद्ध वे क़ानून पड़ते थे। और, लार्ड शैफ्टसबरी जैसा भूमिपति जिसे फैक्ट्री क़ानूनों की न्यायपूर्णता का समझना कठिन न था, खेत के मजदूरों की अवस्थाओं को सुधारने के लिए क़ानून बनाने की न्यायपूर्णता को कभी नहीं समझ सका। संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के दास-स्वामी पूर्ण सचाई के साथ विश्वास करते थे कि दासता की प्रथा से तो दासों का ही हित होता है।

कोई-कोई यह आपत्ति करते हैं कि यह सिद्धान्त उस समाज के लिए तो ठीक हो सकता है जिसमें सत्ता थोड़े मनुष्यों के हाथ में हो; उदाहरणतः जिस इंग्लैण्ड में मताधिकार मध्यमवर्ग के मनुष्यों के लिए ही सीमित होगा, उसमें स्वभावतः ही प्रधानतया मध्यम-वर्गीय स्वरूप के क़ानून बनेंगे। परन्तु जहाँ राज्य-संस्था बालिग़ मताधिकार के आधार पर प्रजातान्त्रिक है, वहाँ, राज्य के

शासक समष्टिरूप से समाज द्वारा चुने जाते हैं यह तथ्य, उक्त आर्थिक व्याख्या को निकम्मा कर देती है कि सम्पत्ति की शक्ति राज्य के स्वरूप को मुख्यतः निश्चित करती है।

परन्तु यह आपत्ति ऊपर से देखने से जितनी तात्विक मालूम होती है उतनी नहीं है। यह सत्य है कि एक प्रजातन्त्रीय राज्य-संस्था जनसमुदाय की ओर अल्प-जन-सत्तात्मक राज्य-संस्था की अपेक्षा सामान्यतः अधिक उदार होगी। उन्नीसवीं और वीसवीं शताब्दियों में इंग्लैण्ड में बने क़ानूनों के बीच में जो अन्तर है उससे ही यह वात स्वयं स्पष्ट हो जाती है। परन्तु ये अन्तर तथ्य के मूल में कोई आघात नहीं पहुँचाते। सत्ता की प्रवृत्तियाँ अपने कार्यों के लिए, अपने पास क्या है इस बात के ज्ञान, संगठन करने के अभ्यास, और तात्कालिक प्रभाव डालने की योग्यता पर निर्भर रहती हैं। प्रजातन्त्रीय राज्य-संस्था में, जहाँ कि आर्थिक शक्ति की बड़ी-बड़ी विषमतायें होती हैं, निर्धन मनुष्यों में मुख्य विशेषता तो यही होती है कि उनमें ये बातें नहीं होतीं। वे नहीं जानते कि उनके पास भी कुछ शक्ति है। वे इस बात का बहुत कम अनुभव करते हैं कि अपने स्वार्थों को संगठित कर लेने से क्या परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। उनकी सीधी पहुँच अपने ऊपर शासन करनेवाले व्यक्तियों तक नहीं होती। प्रजातन्त्रीय राज्य में भी यदि श्रमिक वर्ग कोई कार्य करते हैं, तो उस काम से जितना लाभ होना निश्चित होता है उसकी अपेक्षा उनकी आर्थिक निश्चिन्तता बहुत अधिक ख़तरे में पड़ जाती है। उनके हाथों में वे साधन

क्वचित ही होते हैं जिनसे वे अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर सकें। वे यह भी नहीं जानते कि इनका किस प्रकार विधिवत् व्यक्त किया जाय और किस प्रकार इनका समर्थन किया जाय। वे नीचेपन की भावना से सदा दबे रहते हैं जो कि आज्ञाओं का सदा पालन करते रहने से पैदा होती हैं, और आज्ञा देने के अभ्यास द्वारा उत्पन्न आत्मविश्वास के समस्त अनुभवों से वे वंचित रहते हैं। वे भूल से समझ बैठते हैं कि जिन संस्थाओं को उन्होंने उत्तराधिकार में पाया है, वे समाज के अनिवार्य आधार स्तम्भ हैं। वास्तव में, प्रत्येक प्रकार से यह आशा की जा सकती है कि सार्व-जनिक मताधिकार की भित्ति पर बनी हुई राज्य-संस्था से, अन्य किसी प्रकार की राज्य-संस्था की अपेक्षा, जनसमुदाय को अधिक विस्तृत रिआयतें मिलेंगी, परन्तु ऐसा कोई ऐतिहासिक कारण नहीं है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि आर्थिक-रूपेण विषम समाज के जो सामाजिक परिणाम होते हैं उनको ऐसी राज्य-संस्था स्वयं सीधी तरह से मूलतः परिवर्तित करने में समर्थ हो सकेगी।

तात्पर्य यह है कि, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि किसी विशेष राज्य-संस्था में जो विधि-निदेश बनते हैं उनका स्वरूप उन कार्यसाधनार्थक माँगों के अनुरूप होता है जिनका सामना राज्य-संस्था को करना पड़ता है, और फिर ये मांगें भी, सामान्य रूप से, उसी प्रकार की होती हैं जिस प्रकार की उस राज्य-संस्था द्वारा नियन्त्रित समाज में आर्थिक शक्ति बटी हुई होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक शक्ति जितनी समानता से

विभक्त होगी उतना ही घनिष्ट सादृश्य समाज के साधारण हितों और राज्य-द्वारा लागू किये हुए क़ानूनी विधि-निदेशों के बीच होगा। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि आर्थिक शक्ति समान होने से कार्य-साधनार्थक माँग भी समान होती है और उस अवस्था में राज्य की इच्छाशक्ति एक दिशा की अपेक्षा दूसरी दिशा की ओर विशेष पक्षपात लिये हुए नहीं होती। और यदि राज्य-संस्था माँग को पूरा करने के लिए एक संगठन माना जाय तो जिस शक्ति का उसे सामना करना पड़ता है वह जितनी समानता से विभिक्त रहेगी उसकी पूर्ति भी राज्य-संस्था की ओर से उतनी ही व्यापक होगी।

कुछ भी हो इतिहास का सामान्य अनुभव तो यही मालूम होता है। कुलीन जन-सत्तात्मक राज्य इसलिए चलता रहा कि उसके लाभों से बहिष्कृत रहनेवाले लोगों की संख्या, जो उस राज्य की भित्तियों का विरोध करने की अपनी शक्ति को पहचानते भी थे, इतनी कम थी कि उसका कुछ परिणाम नहीं हो सकता था। और वह इसलिए नष्ट हो गया कि उत्पत्ति-प्रणाली में परिवर्तन होजाने से राज्य में सम्पत्ति का विभाजन इतना बदल गया कि जो लोग सत्ता से बहिष्कृत थे, वे नई समाज-व्यवस्था में अच्छी तरह हिस्सा लेने पर राज्य-संस्था द्वारा लागू किये जानेवाले क़ानूनी विधि-निदेशों के दायरे को अपने लाभ के लिए बढ़वा सके।

अतः इस स्थान पर अब हम इस बात की जाँच कर सकते हैं कि राज्य-संस्था को शुद्ध क़ानूनी व्यवस्था मानने का क्या अर्थ है। ऐसा मानने से यह मालूम नहीं होता कि क़ानूनी क्षेत्र के बाहर

भी राज्य-संस्था की प्रामाणिकता है या नहीं। क़ानूनी विधि-निर्देशों के समूह की हैसियत से राज्य-संस्था शक्तियों का एक अस्थायी समानान्तर चतुर्भुज है और जैसे-जैसे इसके क्षणिक स्वरूपों को निर्धारित करनेवाली शक्तियाँ बदलती रहती हैं वैसे-वैसे ही इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। इसके क़ानून इसी दृष्टि से प्रामाणिक हैं कि किसी विशेष समय पर वे वास्तव में बलपूर्वक लागू किए जा सकते हैं। यदि. उनका मूल उद्गम राज्य-संस्था है, इसके अतिरिक्त अन्य आधार पर हम उनके प्रामाणिक होने का कभी दावा करते हैं, तो हम क़ानून के क्षेत्र का उल्लङ्घन करके उस प्रदेश में आ जाते हैं जहाँ दूसरे ही हेतु प्रधान हैं। तात्पर्य यह है कि संयुक्त राष्ट्र की काँग्रेस या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का कोई भी क़ानून क़ानूनी क्षेत्र में माननीय किये जाने का दावा केवल इसलिए करता है कि वह उस काँग्रेस का या पार्लमेण्ट का क़ानून है। यदि वह अन्य आधारों पर मान्यता पाना चाहे, उदाहरणतः यदि वह इस कारण मान्य होना चाहे कि वह बुद्धिमत्ता-पूर्ण है या न्याय पूर्ण है, तब तो इस आधार की दृष्टि से उद्गम स्थान के कारण मान्य होने की उसकी बात असङ्गत होगी। क्योंकि फिर तो वह अपने आपको मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त के शब्दों में उपस्थित करता है, जो क़ानून क शुद्ध क्षेत्र में उचित नहीं हो सकता।

२

यहाँ राज्य-संस्था सम्बन्धी तत्व-ज्ञान का दूसरा पहलू सामने आता है, जिसका उल्लेख पहले ही कर दिया गया है। हमने बताया

है कि कुछ लोगों का एक समुदाय, जिनका सामूहिक नाम सरकार है, विधि-निदेशों को बल-पूर्वक लागू करता है, और राज्य-संस्था की दृष्टि में क़ानून ऐसे ही विधि-निदेशों का समूह है। हमने यह मालूम किया है कि विधि-निदेशों का वास्तविक स्वरूप आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ही बनता है, और क़ानूनी व्यवस्था का, जो कार्य साधनार्थक माँगों को पूर्ण करती है, आधार किसी भी विशेष समय पर यह आर्थिक व्यवस्था ही होती है। परन्तु, स्पष्टतः, इस से हमें शुद्ध वस्तुस्थिति के सिवाय अन्य कुछ ज्ञात नहीं होता। इससे यहाँ ज्ञात होता है कि कोई राज्य-संस्था किसी विशेष स्वरूप के क़ानून को क्यों बनाती है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि राज्य-संस्था के क़ानूनों का स्वरूप, तत्वतः, कैसा होना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि राज्य-संस्था की शुद्ध क़ानून-परक व्याख्या उसके उद्‌गम-स्थान के कारण ही माननीय है। परन्तु यदि मैं प्रश्न करूँ कि मुझसे राज्य-संस्था का आज्ञा पालन करने की आशा क्यों की जानी चाहिए, तो स्पष्टतः, मुझे यह बताया जाना काफ़ी नहीं है कि तुम्हें उसका आज्ञा-पालन इसलिए करना चाहिए कि वह राज्य-संस्था है। मैं प्रश्न करूँगा, जैसा कि भूतकाल में लोगों ने प्रश्न किया है, कि राज्य-संस्था के निर्देश पालन किये जाने योग्य क्यों हैं, और यदि वे, जो कुछ मैं विचारता हूँ, जो-जो आशायें रखता हूँ और जिस-जिस बात का अनुभव करता हूँ, उन सबके विरुद्ध जाते हैं, तो मैं यही परिणाम निकाल सकता हूँ, जैसा कि भूतकाल में लोगों ने निकाला था, कि मेरे सामने इसके सिवाय

दूसरा चारा नहीं है कि जो आज्ञा-पालन मुझसे इस प्रकार चाहा जाता है मैं उससे इनकार कर दूँ ।

इसलिए राज्य-संस्था की आज्ञाएँ इस कारण मान्य नहीं हैं कि वे राज्य-संस्था की हैं परन्तु उनके औचित्य के लिए और भी कारण होने चाहिएं । ऐसे उद्गम स्थान से तो इतना ही ज्ञात होता है कि वे कहाँ से निकली हैं । उससे यह तो ज्ञात होता है कि आज्ञापालन कराने के लिए बल-प्रयोग करना, सामान्यतः, उनके अधिकार में होगा । परन्तु उससे और अधिक कुछ ज्ञात नहीं होता । वह यह नहीं बताता कि इन आज्ञाओं को निकालकर राज्य-संस्था ने उचित कार्य किया । इस प्रकार राज्य की क़ानून-परक व्याख्या न्याय्यता-परक व्याख्या नहीं है, जबतक कि वह क़ानून की व्याख्या से कुछ अधिक नहीं बनती । हमें इस बात की जांच करनी होगी कि क़ानून है किस लिए, वह किस उद्देश्य को सिद्ध करने का दावा करता है, वह ऐसा क्यों समझता है कि वही हमारा भी उद्देश्य होना चाहिए। इसके पश्चात् ही हम राज्य-संस्था की ऐसी व्याख्या प्राप्त कर सकेंगे जो राजनैतिक तत्व-ज्ञान के प्रयोजन के लिए उपयुक्त हो सकेगी । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि हमें क़ानून के साथ उसका प्रयो-जन भी लगाना होगा, जिससे वह मनुष्यों को स्वीकार्य हो सके ।

क़ानून के प्रयोजन प्रायः उतने ही भिन्न-भिन्न हैं जितने कि मनुष्य-जाति के ऐतिहासिक अनुभव । परन्तु मनुष्य जिन संस्थाओं के अधीन रहे हैं उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने किस प्रकार प्रयत्न किया है, यह जानने के लिए कुछ मुख्य-मुख्य विचारों

का भेद समझ लेना उपयोगी होगा। मानव जाति की आरम्भिक अवस्था के अनुभवों का जो अत्यन्त सामान्य दृष्टिकोण रहा है वह दैवी कहा जा सकता है। क़ानून ऐसे दैवी नियमों का समूह है जो उनकी अधीनता में रहनेवाले मनुष्यों के लिए किसी परमेश्वर या देवताओं की ओर से मिले हैं, अतः वे पालन करने योग्य हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति दैवी है। स्पष्टतः मूसा का क़ानून या सूर्य देवता द्वारा पूर्ण ब्योरेवार दिया हुआ हम्मूराबी का क़ानून ऐसा ही था। लोगों से उनका पालन करने को इसलिए कहा जाता है कि उनका भंग करने पर दैवी प्रकोप होगा। अथवा, इससे एक क़दम आगे बढ़ें तो हमें क़ानून ऐसे प्राचीन रीति-रिवाजों का समुदाय मिलता है, जो सम्भवतः लिखे नहीं गये परन्तु जिनकी एक पुरोहित जाति ने परम्परा से रक्षा की है, और वे अपना पालन इसलिए चाहते हैं कि उनको तोड़ने से दैवी-अप्रसन्नता का भय है।

ऐसे सिद्धान्त, अधिकांश, मानव जाति के प्रारम्भिक इतिहास के समय के हैं। अधिक परिपक्व युग में, उदाहरणतः रोम के न्याय-विज्ञान (क़ानून-शास्त्र) के समय में, क़ानून का पालन करना इस-लिए अच्छा बताया गया है कि समस्त पदार्थों और तथ्यों का जो मूल स्वरूप है उससे क़ानून के सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई है, अतः मनुष्यों का व्यवहार उनके अनुकूल होना चाहिए। ऐसी सृष्टि-रचना शास्त्रीय दृष्टिकोण टॉमस एकिनास के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। टॉमस एकिनास के विचारानुसार क़ानून एक ऐसा दर्पण है जिसमें विश्व की रचना और शासन करनेवाली दैवी बुद्धि का

प्रतिबिम्ब है। मनुष्यों को उसका पालन करना चाहिए, मनुष्य उसके पालन द्वारा स्पष्टतः उस योजना के अनुकूल अपना व्यवहार बनाते हैं जिस पर संसार की अच्छी व्यवस्था निर्भर है। केण्ट की विचार-दृष्टि भी इसीके समान है। उसके मतानुसार क़ानून उन नीति-नियमों का समूह है जिनसे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को भी वैसी ही स्वतन्त्रता देता हुआ अपनी अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। हेगेल इसी विचार को सृष्टि-रचना-शास्त्र पर घटा देता है। उसने प्रतिपादन किया है कि इतिहास का क्रम अधिकाधिक बढ़नेवाली स्वतन्त्रता के विकास के सिद्धान्त का व्यक्त रूप है, और वह सिद्धान्त राज्य-संस्था के विकास के रूप में पूर्ण होता जाता है।

इन सब व्याख्याओं में एक सामान्य विशेषता है। उनके अनुसार क़ानून की प्रामाण्यता मनुष्य की नियन्त्रण-शक्ति के परे है। चाहे वे ईश्वर का प्रकोप मानें, चाहे विश्व की आन्तिरिक योजना का पूर्ण करना मानें, चाहे बढ़ती हुई स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना मानें, परन्तु वे यह कभी नहीं मानते कि मनुष्य एक स्वाधीन अवयव है जो स्वयं अपने अनुभव से इच्छापूर्वक और जानता हुआ क़ानूनों के निर्माण को रूप देता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि क़ानून का तत्व 'दूर अन्यत्र, रहता है, और उसका पता लगाना मनुष्य का काम है। अच्छाई इसी बात में है कि मनुष्य ऐसे व्यवहार-शास्त्र के अनुकूल आचरण करे जिसके निर्माण करने में उसका कोई हाथ न रहा हो। उससे कहा जाता है कि वह

नीति-नियोगों के ऐसे समूह पर विश्वास करे जिसमें सृष्टि-क्रम के अनिवार्य परिणाम समाविष्ट हैं अथवा ऐसे परिणाम समाविष्ट हैं जिनसे वह मुक्ति-रूपी मूल्य देकर ही छुटकारा पा सकता है।

बिलकुल स्पष्ट है कि ऐसी व्याख्यायें काम की नहीं हैं। ऐतिहासिक अन्वेषण ने उन सब व्याख्याओं का खण्डन कर दिया है जो दैवी प्रामाण्यता के आधार पर बनी हुई थीं। उनके दिव्य-संदेशोंवाला ईश्वर ऐसे रहस्य की भाषा में बोलता है, जो उसके स्वयं-नियुक्त भक्तों के सिवाय और किसीके लिए आकर्षण नहीं रखता। इसके अतिरिक्त, सृष्टि-क्रम की, जो प्रकृति या दैवी बुद्धि का व्यक्त रूप है, कल्पित युक्ति के आधार पर बनी हुई व्याख्यायें, स्पष्टतः सामाजिक जगत में अचेतन प्रकृति के से क़ानून ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न का फल हैं। परन्तु यह प्रयत्न असफल रहा है। इसमें यह बात भुला दी गई है कि सामाजिक जगत केवल निरन्तर गतिशील ही नहीं है परन्तु निरन्तर नवीनता-शील भी है, और व्यक्तिगत मनुष्यों की सक्रिय इच्छाशक्तियाँ ही उसके समीकरण के अङ्ग हैं, और व्यक्तिगत मनुष्य आकस्मिक परिणामों की छानबीन करके उनको बदलने में भी समर्थ हैं। वे इच्छापूर्वक परिवर्तन करते हैं। इसलिए भौतिक-विज्ञान और रसायन-विज्ञान जैसे प्राकृतिक क़ानूनों के समान दृढ़ नित्यता रखने वाले क़ानून राजनैतिक क्षेत्र में काम नहीं दे सकते। प्रकृति के अनुकूल सामाजिक जीवन हो इसमें, स्टोइकवाद (वैराग्यवाद) की भाँति, यह भुला दिया गया है कि सभ्य संसार में कला ही

मनुष्य की प्रकृति है। और, कला के उच्चतम सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन सुन्दरत्व या शिवत्व सम्बन्धी उस दृष्टिकोण पर निर्भर है जो सर्वत्र घटित हो सके।

अब बात यह है कि क़ानून की जिन व्याख्याओं पर हमने ऊपर विचार किया है उनमें से अधिकांश उस समाज-व्यवस्था का समर्थन करती हैं जिसमें बहुत लोग थोड़े लोगों के लाभ के लिए जीते हैं। उदाहरण के लिए 'हेगेल यह मानता था कि प्रशिया के राजा का आज्ञापालन करना ही मनुष्य की स्वतन्त्रता का उच्चतम विकास है'। यह कहना उसकी राज्य-संस्था सम्बन्धी व्याख्यान का हास्यजनक चित्र न होगा। संक्षेप में, आंशिक और पक्षपातपूर्ण अनुभव के आधार पर बनी हुई धारणाओं को शेष समाज की इच्छाओं पर लाद देने से ही ऐसी विचार-दृष्टियाँ बनी हैं, इनमें यह जानने का प्रयत्न नहीं किया गया है कि इन धारणाओं के परिणाम से उनके अनुभव कहाँ तक मिलते हैं। यही कारण है कि लोग क़ानून की उस व्याख्या की ओर आकर्षित होते हैं जो प्राचीन यूनान के समय से अबतक लोगों पर मोहिनी डाले हुए है।

वह व्याख्या, कम-से-कम अपने मूल-तत्वों में तो, सरल है। उसके अनुसार क़ानून मनुष्यों के लिए तबतक माननीय नहीं है जबतक वे उसको माननीय स्वीकार न करलें। इसलिए, किसी भी ढंग की राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों को प्रामाणिकता इस बात ने दी है कि मनुष्यों ने उन आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है जिन पर वे बने हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि

मनुष्य अपनी-अपनी की हुई प्रतिज्ञाओं का पालन न करें तो जीवन असम्भव होजाय और इसलिए यदि राज्य-संस्था की नींव सर्व-स्वीकृति पर स्थित हो तो उसके निर्मित क़ानून नागरिकों के लिए बाध्य हो सकते हैं। अन्यथा, स्पष्टतः, वह नग्न बल-प्रयोग होगा और उसको कोई नैतिक आधार नहीं दिया जा सकता।

मोटे तौर पर कहें तो यह सामाजिक ठहराव का सिद्धान्त है। मतलब यह है कि मनुष्य मिलकर राज्य-संस्था बनाने पर राज़ी होते हैं, और उसके हाथ में आज्ञायें निकालने की शक्ति देते हैं। कभी-कभी, जैसा कि हॉब्स का मत है, यह शक्ति अपरिमित और अनुल्लङ्घनीय होती है; मनुष्य अराजकता के भीषण त्रास से बचने के लिए एक निरङ्कुश स्वेच्छाचारी को अपना स्वामी बना लेते हैं। कभी-कभी, इसके विरुद्ध, जैसा कि लॉक का मत है यह शक्ति परिमित और लङ्घनीय होती है; मनुष्य राज्य-संस्था के लाभों को समझते हैं, परन्तु वे उसे सर्वाधिकार-सम्पन्न बनाने के लिए राज़ी नहीं होते। यदि उसे क्रान्ति के ख़तरे से बचना हो तो उसे एक 'लिमिटेड कम्पनी' के समान बिलकुल अपने 'मेमोरेण्डम आव् एसोसिएशन' की सीमा के भीतर रहना चाहिए। और कभी-कभी, जैसा कि रूसो का मत है, राज्य-संस्था मनुष्यों की सहमति से सर्वाधिकार-सम्पन्न ही बनती है; परन्तु जब वह कार्य करती है तो ज्यों-ज्यों वह एक-एक कार्य करती जाती है त्यों-त्यों उन मनुष्यों की प्रत्येक इच्छा उसकी ही इच्छा बनती जाती है। राज्य-संस्था निरन्तर सर्वसम्मति-

निर्धारण द्वारा सञ्चालित हो रही है, और उसके क़ानून उसके सदस्यों के लिए इसलिए पालनीय होते हैं कि वे सदस्य ही स्वयं क़ानून के तत्वों का निर्माण कर रहे हैं।

मेरे विचारानुसार, इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि जो व्याख्यायें क़ानून के पालनीय होने के दावे को, इस दृष्टि से कि वह स्वीकृति से बना है, उचित ठहराती हैं वे अन्य समस्त प्रतिद्वन्द्वी व्याख्याओं की अपेक्षा बहुत सबल हैं। उनके कथनानुसार, व्यक्ति क़ानून को स्वीकार कर लेने से अपनी बाध्यता को स्वयं उत्पन्न करता है और इस प्रकार यह स्पष्टतः युक्तियुक्त है कि वह अपने को इस प्रकार बाध्य समझे। परन्तु इन व्याख्याओं में जो गम्भीर त्रुटियाँ हैं, उनकी ओर से हमें आँख नहीं बन्द करना चाहिए। इस व्याख्या में जिस प्रारम्भिक सामाजिक ठहराव का ज़िक्र है उसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है; राज्य-संस्था बनाई नहीं गई है, किन्तु विकसित हुई है। और, उसके कार्य केवल स्वीकृति की भित्ति पर ही सञ्चालित नहीं किये जा सकते थे। न केवल किसी विशेष अवसर पर भिन्नमतावलम्बी अल्पपक्ष को बलपूर्वक झुकाना ही पड़ता है, बल्कि जब हम एक बार छोटे नगर-राज्य से आगे बढ़ जाते हैं तब राज्य का आकार बड़ा होने के कारण, किसी-न-किसी रूप में, प्रतिनिधिसत्तात्मक सरकार ही एक ऐसा स्वरूप रह जाता है जिसके द्वारा राज्य-संस्था की इच्छाशक्ति व्यक्त हो सकती है। यहाँ यह ठहराव के सिद्धान्त के प्रतिपादक लोग कहते हैं कि स्वीकृति मौन होती है। परन्तु चूँकि स्वीकृति में मन

के इच्छापूर्वक कार्य करने का भाव रहता है, इसलिए इससे कुछ अधिक निश्चित बात का होना आवश्यक है। और उस क़ानून के विषय में हम क्या कहेंगे जिस पर मनुष्य उसके बनते समय स्वीकृति दे देता है और बाद में उसके कार्यपरिणाम का अनुभव करके अपनी स्वीकृति वापिस ले लेता है ? क्या वह क़ानून उसके लिए फिर भी प्रामाणिक है ? क्या स्वीकृति वापिस ले लेने की शक्ति शासन-सञ्चालन के कार्य को असम्भव न बना देगी ? निःसन्देह विधि-निदेशों का वही समूह अच्छा होता है जिसमें कम-से-कम बलप्रयोग करना पड़े, फिर भी किसी ऐसे आधुनिक समाज की कल्पना करना असम्भव है जिसका उद्देश्य, कम-से-कम उसके कुछ नागरिकों पर ही, बल का प्रयोग किये बिना सिद्ध हो सके।

४

हम अपने मुख्य प्रश्न को दूसरी तरह रखते हैं। जैसा कि मैंने बताया है, राज्य-संस्था मानवीय आचरण-व्यवहार को नियन्त्रित करने की एक विधि है। वह ऐसी क़ानूनी व्यवस्था है जिसके आदर्श-नियम मनुष्यों को एक विशेष प्रकार से ही व्यवहार करने के लिए बाधित करते हैं, और अन्य प्रकार से व्यवहार नहीं करने देते। उसका कार्य मूलतः विधि-निदेशात्मक कार्य है, जिससे बचने का हक़ क़ानूनन उसके किसी भी नागरिक को नहीं है। उसे यह शक्ति क्यों उपलब्ध है ? इसके लिए इसकी कर्तृत्व-सम्बन्धी व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कारण मिलना कठिन है। राज्य-संस्था की शक्ति जो-कुछ करना चाहती है उसके अनुरूप ही उस (शक्ति)

का औचित्य हो सकता है। उसके क़ानून का औचित्य, जिन माँगों को वह पूर्ण करना चाहता है, उनकी दृष्टि से ही ठहराया जा सकता है। राज्य-संस्था व्यक्तिगत और सामूहिक, प्रतियोगी और सहयोगी, अनेक प्रकार के बहुसंख्यक स्वार्थों पर अधिष्ठातृत्व करती है। उसका मनुष्यों की ओर से निष्ठा प्राप्त करने का अधिकार स्पष्टतः सामाजिक माँग को अधिक-से-अधिक पूर्ण कर सकने की उसकी शक्ति पर निर्भर रहता है। उसे स्वार्थों में समतोलता इस प्रकार प्राप्त करनी चाहिए कि जो पर्याप्त (संतोष-प्रदान-रूपी) परिणाम उत्पन्न हो वह किसी भी दूसरे कार्यक्रम के परिणाम से अधिक हो। समतोलता किस प्रकार प्राप्त की जाय इसके लिए हम कोई स्थायी सिद्धान्त नहीं बता सकते, केवल इस कारण कि भिन्न-भिन्न युगों में बातों का मूल्य भी भिन्न-भिन्न होता है, और यदि वास्तविक मूल्य का कोई निरपेक्ष सूत्र बनाया जायगा, तो वह बनते ही निकम्मा हो जायगा। हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि क़ानूनी विधि-निदेशों के कार्यान्वित होने से हम कम-से-कम बलिदान करके अधिक-से-अधिक मानवीय आवश्यकता को पूर्ण कर सकें तो वे लागू किये जा सकते हैं। अतः जिन संस्थाओं द्वारा राज्य-संस्था कार्य करती है उनका निर्माण हमें इस प्रकार करना होगा कि जिससे वह इस उद्देश्य को सर्वोत्तम प्रकार से पूर्ण कर सके।

: २ :

वृहत् समाज में राज्य-संस्था का स्थान

१

मैंने बताया है कि राज्य-संस्था की शक्ति उसी मात्रा में औचित्य रखती है जिस मात्रा में वह कम-से-कम बलिदान करके मानवीय आवश्यकताओं को अधिक-से-अधिक पूर्ण कर सके। इस कर्तव्य को वह जितनी खूबी के साथ सम्पन्न करती है उसे, शुद्ध क़ानूनी से अतिरिक्त, निष्ठा प्राप्त करने का हक़ भी उतना ही होता है।

इसके तात्पर्य को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें वृहत् समाज में राज्य-संस्था के स्थान को समझ लेना चाहिए। जैसा मैंने कहा है वह मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित करने की विधि है, स्पष्टतः नियन्त्रण-नियमों का औचित्य राज्य-संस्था के व्यक्तिगत सदस्यों के जीवनों में होनेवाले उनके परिणामों से सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं के पूर्ण करने का निरन्तर प्रयत्न करते हुए सुख प्राप्त करना चाहता है। उसके लिए राज्य-संस्था ही ऐसी सर्वोपरि संस्था है जिसके बनाए हुए नियमों के अन्दर रहकर ही

वह अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए कार्य कर सकता है। सम्भव है उसके कुछ विधि-निर्देशों को वह पसन्द करे और कुछ को वह बिलकुल नापसन्द करे। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि राज्य-संस्था कुछ ऐसे कार्य कर सकती है जिनको उसके प्रति नहीं करना चाहिए और कुछ ऐसे कार्य करना भूल सकती है जिनको उसके प्रति करना चाहिए। वह राज्य-संस्था की इच्छा को तत्वतः इस प्रकार संस्कृत करना चाहता है कि जहाँतक हो सके वह अपने निज के अनुभव की शिक्षा के अनुरूप होजाय।

क्योंकि व्यक्ति केवल राज्य-संस्था का सदस्य ही नहीं है। जिस समाज का वह एक अङ्ग है, उसमें असंख्य स्वार्थ-घटक हैं जिनसे उसका सम्बन्ध हो सकता है। वह धर्मसंस्था (चर्च) का सदस्य, तीव्र व्यवसाय-संघवादी (ट्रेड-यूनियनिस्ट), फ्री-मेसन लॉज का उत्साही सभासद, अनिवार्य शीतला-टीका लगवाने के आन्दोलन का जबरदस्त समर्थक हो सकता है; वह शान्तिवादी हो सकता है जिसको सैनिक नौकरी के विरुद्ध धार्मिक आपत्ति रखना ही जीवन का मुख्य सिद्धान्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह साथ-साथ ऐसे सङ्घों से सम्बन्ध रखता है जो अपने पृथक्-पृथक् स्वार्थों की उन्नति करना चाहते हैं। वे सङ्घ अधिकतर राज्य-संस्था द्वारा निर्धारित नियमों की सीमाओं के अन्दर ही रहते हुए अपना कार्य करते हैं। राज्य-संस्था की इच्छा उस सीमा को निश्चित करती है जिनके अन्दर उन सङ्घों की इच्छाओं को कार्य करना चाहिए। क़ानून की दृष्टि में, उनकी इच्छायें उनके सदस्यों

पर केवल उसी हद तक वाध्य होती हैं, जहाँतक वे राज्य-संस्था के निश्चित किये हुए क़ानूनी विधि-निदेशों के अनुकूल हों।

परन्तु, चूँकि, व्यति केवल राज्य-संस्था का सदस्य ही नहीं है, इसलिए, वह केवल इसी कारण कि राज्य-संस्था क़ानूनन समाज का सर्वोपरि सङ्गठन है, उसकी आज्ञापालन करने के लिए अपने को वाध्य नहीं समझता। उसका, निज का अनुभव भी महत्व रखता है। वह राज्य-संस्था के कार्यों का परीक्षण करता है। उसके अन्दर एथेनेशियस की वृत्ति भी है जो उसे राज्य-संस्था के कार्यों से अलग भी करती है और जोड़ती भी है। यदि उसकी धर्मसंस्था का संघर्ष राज्य-संस्था से होता है, तो वह निर्भय करता है, और वही निर्भय कर सकता है, कि उसकी निष्ठा दोनों में से किसकी ओर जानी चाहिए। यदि राज्य-संस्था उसके व्यवसाय-सङ्घ का दमन करने का निश्चय करती है तो उस दमन को स्वीकार किया जाय या नहीं इस वात के निर्णय करने में वह सहायता देता है। तात्पर्य यह है कि राज्य-संस्था सदा अपने कार्य सापेक्षता के वातावरण में करती है। उसमें सफलतापूर्वक वलप्रयोग करने के लिए सफलतापूर्वक समझाने की योग्यता भी होनी चाहिए। उसे व्यक्ति को यह अनुभव करवाना चाहिए कि उसका भलाई उन क़ानूनी विधि-निदेशों के साथ संलग्न है जिनको वह स्थापित करने का प्रयत्न कर रही है। वह उसकी निष्ठा को, राज्य-संस्था होने की हैसियत से नहीं, वल्कि राज्य-संस्था की हैसियत से जो कुछ करना चाहती है, उससे प्राप्त करती है।

हम इस बात का अनुभव, कि राज्य-संस्था का निष्ठा-प्राप्ति का अधिकार कुछ शर्तों पर निर्भर है, साधारणतः कदाचित इसलिए नहीं करते कि सामान्यतः व्यक्ति आज्ञापालन करने में तर्क-वितर्क नहीं करता। राज्य-संस्था की शक्ति महान् है। जब उसका आघात उसके अस्तित्व के मूल पर ही पहुँच जाता है तभी वह उसकी सत्ता पर प्रहार करने की आवश्यकता का अनुभव करता है। परन्तु कोई भी व्यक्ति जो राष्ट्रीय आन्दोलनों के सामान्य इतिहास पर, या क्रान्तिकारी नेताओं और उनके सञ्चालित दलों के जीवनों पर, या १९१४ से पहले के इङ्गलैण्ड के स्त्री-मताधिकार सम्बन्धी हलचल के समान आन्दोलनों पर विचार करेगा उसे ज्ञात हो जायगा कि जब राज्य-संस्था की प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की न्याय्यता की भावना पर प्रबल आघात पहुँचाती हैं तभी, अन्तिम सारासार-निर्णय करके, वह और उसके ही समान मत रखनेवाले उसके साथी उसके कार्यों से मतभेद प्रकट करने को तैयार होते हैं।

और, हम उनके मतभेद को तबतक निन्दित नहीं ठहरा सकते जबतक हम यह सिद्धान्त स्वीकार न करलें कि व्यवस्था ही संसार में सबसे कल्याणकारी बात है। निश्चय ही, इस बात को कोई नहीं मानेगा। व्यवस्था अपने अभीष्ट प्रयोजन के कारण अच्छी है, स्वतः ही अच्छी नहीं है। जहाँ राज्य-संस्था के कार्यों से नागरिकों पर निरन्तर अत्याचार होरहा हो, वहाँ व्यवस्था क़ायम रखना, जिन बातों से जीवन जीवन-योग्य है, उनकी ही हत्या करना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि हम राज्य-संस्था को अपनी निष्ठा सदा

इस शर्त पर देते हैं कि उसके उद्देश्य, हमारे अपने सामने स्थापित किये हुए उद्देश्यों को पूर्ण करते हों। उसका सर्वोपरित्व इस शर्त पर आश्रित है कि हम उसके शक्ति-प्रयोग को स्वीकार करें। उसे अपने कार्यों द्वारा हमारे अन्दर यह भावना उत्पन्न करनी चाहिए कि उसका कल्याण होने में हमारा कल्याण भी समाविष्ट है। हमें यह अनुभव होना चाहिए कि उसके निश्चत किये हुए नियम उसके अन्य सदस्यों के लिए जितने सुखसाधक हो सकते हैं उससे कम हमारे लिए नहीं हैं। परन्तु जब वह इस प्रकार कार्य करने लगती है कि उसके कार्य हमारे गहरे अनुभवों के विरुद्ध पड़ते हैं, तो हमारे लिए उसका विरोध करना, यदि हम विरोध को परिणाम-कारी बना सकें, आवश्यक होजाता है।

यही बात दूसरी तरह कही जा सकती है। राज्य-संस्था अपने नियमों की रक्षा इसलिए नहीं करती कि वे नियम हैं, बल्कि इस-लिए कि उनसे व्यक्तिगत जीवनों पर कुछ विशेष परिणाम होता है। उसका प्रत्येक सदस्य सुखी होना चाहता है। इसलिए उस सदस्य को ऐसी अवस्थाओं की आवश्यकता होती है जिनके बिना सुख अप्राप्य हैं, और वह राज्य-संस्था विषयक अपना विचार अपने लिए उन अवस्थाओं को प्राप्त करा सकने की उसकी योग्यता के अनुसार बनाता है। परन्तु स्पष्ट है कि राज्य-संस्था प्रत्येक व्यक्ति के सुख प्राप्त होने का अभिवचन नहीं दे सकती, केवल इसी कारण कि कुछ अवस्थायें जिनपर सुख निर्भर है उसकी शक्ति के बाहर हैं। सम्भव है कि कोई व्यक्ति यह अनुभव करे कि किसी अमुक

स्त्री का प्रेम सम्पादित किये विना उसका जीवन जीवन-योग्य नहीं है, परन्तु कोई नहीं कहेगा कि उसे राज्य-संस्था द्वारा उस स्त्री के प्रेम-सम्पादन का विश्वास दिलाए जाने का अधिकार है। हम इतना ही कह सकते हैं कि सुख-प्राप्ति के लिए कम-से-कम कुछ ऐसी सामान्य वातों की जरूरत है जिनका सब नागरिकों से समान सम्बन्ध है और जिन पर सन्तोष-जनक सामाजिक जीवन अवलम्बित है। राज्य-संस्था को, कम-से-कम ये वातें तो अपने सदस्यों को प्राप्त करानी ही चाहिएँ, यदि वह उनसे अपने नियमों का निरन्तर पालन कराने की आशा रखना चाहती है।

संक्षेप में, राज्य-संस्था के वनाये हुए नियमों से मालूम होता है कि उसके प्रति कुछ माँगें भी होनी चाहिएँ। क्योंकि, वह राज्य-संस्था क्या कर सकती है, यह वात स्पष्टतः उसके उद्देश्य से मर्यादित है; और इस उद्देश्य में राज्य-संस्था के समक्ष नागरिक के अधिकार भी समाविष्ट हैं, ताकि उद्देश्य सुरक्षित रह सके। अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अधिकारों के सिद्धान्त से हमारा क्या तात्पर्य है, यह एक ऐसी शर्त है जिसके विना, ऐतिहासिक अनुभव की दृष्टि से, व्यक्ति को विश्वास नहीं हो सकता कि वह सुख प्राप्त कर सकेगा। अर्थात्, हम यह तो नहीं कह सकते कि व्यक्ति के अधिकार नित्य हैं, स्पष्टतः वे समय और प्रदेश के अनुसार सापेक्ष हैं। परन्तु इस सापेक्षता के रहते हुए भी व्यक्ति को राज्य-संस्था से उसकी आज्ञाओं के पालन के लिए शर्त-स्वरूप उन अधिकारों की स्वीकृति पाने का अधिकार है।

इसका अभिप्राय समझने के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा सम्भवतः यही है कि हम अपने जैसे समाज में एक सामान्य नागरिक की स्थिति की कल्पना करें। वह शारीरिक सुरक्षिता के विना सुख की आशा नहीं कर सकता; समाज की साधारण और प्रतीक्षित अवस्था ही ऐसी होनी चाहिए जिसमें उसे विश्वास रहे कि वह शारीरिक आक्रमण से सुरक्षित रहेगा। उसके पास जीविका के साधन होने चाहिएं; इसका अभिप्राय यह है कि या तो उसका काम पाने का अधिकार अथवा, उसके तथा उसके अभाव में, योग्य भरण-पोषण पाने का अधिकार स्वीकृत किया जावे। परन्तु मोटे तौर पर यह कहने से कि काम पाने का हक़ है सभ्य जीवन की आवश्यकतायें पूर्ण नहीं हो सकतीं। इसलिए इसका अर्थ यह होगा कि उसका अधिकार है कि उसे उचित वेतन पर और इतने निश्चित श्रम-घण्टों का काम मिले जिससे वह अपनी आजीविका प्राप्त करने के अतिरिक्त भी समाज में अपना महत्व प्राप्त कर सके। मेरा कहना है कि उचित वेतन मिले, इससे तात्पर्य है कि इतना पुरस्कार मिलना चाहिए कि जिससे सामान्य शारीरिक आवश्यकतायें पूर्ण हो सकें, और मनुष्य की अन्य आध्यात्मिक मांगों की पूर्ति में भी रुकावट न पड़े। मेरा कहना कि श्रम-घण्टों की उचित मर्यादा निश्चित होने का अधिकार भी होना चाहिए, क्योंकि हमारी जैसी सभ्यता के अन्दर जिसमें यान्त्रिक औद्योगिक कलाओं की प्रधानता है, अधिकांश नागरिक अपने व्यक्तित्व की पूर्णता श्रम के समय में नहीं बल्कि विश्राम के समय में ही प्राप्त

कर सकते हैं। जो राज्य-संस्था कारख़ानेदारों को लोगों से उस प्रकार का अविश्रान्त श्रम लेने देगी, जिस प्रकार की 'औद्योगिक क्रान्ति' के प्रारम्भिक दिनों में प्रायः लिया जाता था, वह उनके सुखप्राप्ति की सम्भावना को नष्ट ही कर देगी। इसलिए विश्राम-प्राप्ति के अधिकार के सम्बन्ध में क़ानूनी विधि-निदेश बनाने पर प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य-संस्था को ज़ोर देना चाहिए।

परन्तु यदि राज्य-संस्था में प्रत्येक व्यक्ति का सुख अवश्य विचारणीय हो तो उसे इससे भी कुछ अधिक की आवश्यकता है। उसे दूसरे मनुष्यों से अपने सम्बन्ध का ज्ञान होना चाहिए और उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह इस सम्बन्ध के अपने अनुभव के परिणाम को व्यक्त कर सके। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, और इसलिए शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार भी नागरिकता के लिए मूलभूत है। कारण कि, सामान्यतः, शिक्षा के बिना मनुष्य महान जगत में, जिसे वह समझने में असमर्थ होता है, हक्का-बक्का रह जाता है, वह अपने को अधिक-से-अधिक उपयोगी नहीं बना सकता; वह अनुभव के परिणाम की ठीक-ठीक छान-बीन नहीं कर सकता। आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं के बीच अशिक्षित मनुष्य अन्धे के समान है, जो कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं समझ सकता। जो राज्य-संस्था अपने नागरिकों के लिए शिक्षा देने से इनकार करती है वह उनको उनके व्यक्तित्व की पूर्णता के साधनों से वञ्चित रखती है।

परन्तु अकेली शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। सम्भव है, वह नागरिक को ज्ञान प्रदान करे परन्तु फिर भी उसे अपने ज्ञान का उपयोग करने के अवकाश से वञ्चित रक्खे। और चूँकि उपयोग करने का अधिकार न देने का सामान्यतः अर्थ है लाभ उठाने का अधिकार न देना, इसलिए इस विषय में भी नागरिक के हित का संरक्षण करना आवश्यक है। इसके लिए चार अधिकार आवश्यक हैं। उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपने मन के भाव को व्यक्त कर सके; उसे किसी उद्देश्य या उद्देश्यों की उन्नति के लिए अपने समान बुद्धि रखनेवाले अन्य नागरिकों के साथ, जो उस उद्देश्य या उद्देश्यों से सहमत हों, सम्मिलित होने का अधिकार होना चाहिए। उसे उन लोगों के चुनने में सहायता देने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए जो उस पर शासन करेंगे; और इस बात की स्वतन्त्रता भी होना चाहिए कि, यदि वह दूसरों को राजी कर सके कि वे उसे चुनें, तो राज्य-संस्था के शासन-कार्य में स्वयं भी भाग ले सके।

इसका परिणाम दूसरे शब्दों में यह होगा कि कोई भी राज्य-संस्था अपने उद्देश्य को जिसके लिए उसका अस्तित्व है, तबतक पूर्ण नहीं कर सकती जबतक वह सार्वजनिक मताधिकार पर स्थित प्रजातन्त्र न हो, उसमें भाषण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता न हो, और यह बात स्वीकार न की जाय कि जाति, मत, जन्म और सम्पत्ति नागरिक अधिकारों के प्रयोग में बाधक न होंगे। हमें यह बात केवल इसलिए माननी पड़ती है कि इतिहास का

अनुभव है कि मनुष्यों के किसी समुदाय का शक्ति से वञ्चित रहने का परिणाम यह होता है कि कभी-न-कभी वे शक्ति के लाभों से भी वञ्चित होजाते हैं। जो सरकार अपनी सत्ता की बल वृद्धि के लिए जिन लोगों का आश्रय लेती है, वह सदा उनकी मांगों के अनुरूप ही राज्य-संस्था की इच्छा को कार्य-परिणत करती है। इसलिए उस आश्रय-क्षेत्र को समस्त नागरिक-समूह के साथ मिला देने से ही इसकी सम्भावना अधिक-से-अधिक बढ़ सकती है कि सम्पूर्ण आवश्यकताओं का ख़याल रक्खा जायगा। हमें इससे इनकार करने की आवश्यकता नहीं है कि प्रजातान्त्रिक पद्धति में कुछ स्वाभाविक कठिनाइयाँ हैं, परन्तु राजनीति का कोई भी तत्व-ज्ञान, जबतक यह स्वीकार न करे कि सब नागरिक अपनी इच्छाओं की पूर्ति पाने के लिए समान-रूप से अधिकारी हैं तब तक व्यक्ति की मांगों को पूर्ण करने का गम्भीर दावा नहीं कर सकता। और नागरिक की इच्छायें निरन्तर जोर के साथ राज्य-संस्था की इच्छा-शक्ति पर प्रभाव डाल सकें, इसके लिए एकमात्र तरीक़ा यही है कि राज्य-संस्था की सरकार शासन-विधान के द्वारा उनका निश्चित-रूप से ध्यान रखने के लिए बाधित की जाय।

भाषण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता के विषय में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। राज्य में इससे अधिक आवश्यक बात दूसरी नहीं है कि मनुष्यों को उसकी समस्याओं पर अपने मन की बात स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकट करने और जिन उद्देश्यों पर वे सहमत हैं उनकी पूर्ति के लिए सम्मिलित होकर स्वच्छन्दतापूर्वक कार्य करने

की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि ये बातें दण्डनीय कर दी जायँगी तो हमें निश्चय है कि अनुभव के परिणामों से मनुष्यों को वञ्चित रक्खा जायगा। राज्य-संस्था अरुचिकर सम्मति का दमन करेगी, और वह जिन उद्देश्यों को पसन्द नहीं करती उनकी पूर्ति चाहने-वाले स्वेच्छा-निर्मित सङ्घों का संङ्गठन होना रोक देगी। चूँकि अनुभव भिन्न-भिन्न हुआ करता है इसलिए उसके परिणामों के अनुसार कार्य करने का अधिकार व्यक्तित्व-पूर्णता के लिए मूलभूत है। निःसन्देह, इस बात में बड़ी सचाई है कि राज्य-संस्था की अवस्था की परीक्षा इस कसौटी के अतिरिक्त और किसी प्रकार नहीं हो सकती कि वह अपने क़ानूनी विधि-निदेशों से भिन्न या विरुद्ध विचारों को सहन करती है या नहीं। दमन का प्रत्येक प्रयत्न, वास्तव में, इच्छा की पूर्ति रोकने का प्रयत्न है जो कभी महत्व प्राप्त कर सकता है। दमन के प्रयत्न से राज्य-संस्था का रुख़ समाज के केवल एक भाग के लाभ की ओर झुक जाता है।

तथापि हम नहीं कह सकते कि इन स्वतन्त्रताओं के उपभोग का अधिकार अपरिमित है। चूँकि राज्य-सस्था का कर्तव्य व्यवस्था को क़ायम रखना है इसलिए उसको चिन्ता रखनी चाहिए कि शान्ति स्थापित रहे। इसलिए उसे यह कहने का अधिकार है कि कोई भी उद्गार जो तात्कालिक अव्यवस्था को प्रत्यक्षतः प्रोत्साहित करेगा दण्डनीय होगा; और, यह कहने का भी अधिकार होगा कि जो संस्था ऐसा कोई कार्य करेगी जिससे व्यवस्था की रक्षा कठिन हो जायगी तो वह भी दण्डनीय होगी। उदाहरणतः, इस बात को

लेकर वह किसी पुस्तक या पुस्तिका का दमन कभी नहीं कर सकती, परन्तु मान लीजिए कि ट्रेफलगार चौक में कोई वक्ता उत्तेजित भीड़ को डाउनिंग स्ट्रीट पर धावा करने के लिए कहता है, तो वह उसको दण्डनीय कर सकती है। वह टॉल्स्टॉय मत के अराजकवादियों की समिति को नहीं दवा सकती, क्योंकि स्व-परिभापा से ही उनके सिद्धान्त वलप्रयोग के विरुद्ध हैं; परन्तु 'अल्स्टर स्वयंसेविकाओं' की भाँति यदि कोई समिति राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों का वलपूर्वक विरोध करने के लिए ही जान-वूझकर संगठित होगी, तो उसे दवाने का उसको अधिकार होगा। सामाजिक शान्ति के खतरे में पड़ने की सम्भावना से स्वतन्त्रता की सीमा सदा मर्यादित रहती है। जहाँ ऐसी आवश्यकता नहीं है वहाँ राज्य-संस्था का हस्तक्षेप करना अधिकार-वञ्चन मात्र है।

हम उन अधिकारों की उपेक्षा भी नहीं कर सकते जो व्यक्तित्व के हितों की रक्षा के लिए हैं। मनुष्य जिस धार्मिक मत को मानना चाहे उसे मानने का उसको अधिकार है; और जवतक उस मत-सम्बन्धी आचरण से सार्वजनिक शान्तिभंग होने की आशङ्का नहीं होती, तवतक राज्य-संस्था को उसमें हस्तक्षेप करने का भी अधिकार नहीं है। उसे न्याय-विचार सम्बन्धी पूर्ण संरक्षण पाने का भी अधिकार है। दोहरे खतरे की-सी वातें अर्थात् व्यक्ति क दण्ड देने के लिए किसी कृत्य के होजाने के वाद उसको अपराध की परिभापा में लेना, विधिवत् वारण्ट के विना उसके मकान की

तलाशी होना, न्यायालय-सम्वन्धी व्यय की ऊंची दरों का रक्खा जाना जिससे निर्धनों के लिए न्यायालय पहुँचना ही असम्भव हो जाय, ये सब ऐसे कार्यों के उदाहरण हैं जो व्यक्ति को अपने अधिकार-पूर्ति से वंचित करते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व के हितार्थ भी भापण-स्वातन्त्र्य पर एक निश्चित मर्यादा लगाना आवश्यक हो जाता है। अपने पड़ौसी के विपय में लांछनात्मक वातें कहने का अधिकार मुझे तवतक नहीं होना चाहिए, जवतक कि मैं यह सिद्ध न कर सकूँ कि (१) लगाया हुआ लांछन सत्य है, और (२) सार्वजनिक हित के लिए उसका प्रकाशन होना आवश्यक है; अन्यथा मैं दण्ड पाने का अधिकारी होऊँगा।

२

ऐसे अधिकारों का राज्य-संस्था में होना आवश्यक है, जिससे नागरिक को उपयुक्त व्यवहार पाने का विश्वास हो सके। इनके विना वह स्वतन्त्र न होगा; तात्पर्य यह है कि इन अधिकारों के विना उसे अनुभव होगा कि उसके व्यक्तित्व के व्यक्तीकरण पर लगाई हुई मर्यादायें उसकी पूर्णता-प्राप्ति की सम्भावना में भयङ्कर-रूप से वाधा पहुँचाती हैं। और, ये अधिकार जवतक सामान्य नहीं होते तवतक उसे आशा नहीं हो सकती कि उसे दूसरे मनुष्यों के समान समझा जाने का अभिवचन मिलेगा।

किसी भी समाज में, जहाँ इस प्रकार के अधिकारों का उपभोग करनेवाले मनुष्य संख्या में परिमित होते हैं, फिर चाहे संख्या किसी भी सिद्धान्त के असनुार परिमित हो, वहाँ परिणाम यह पाया

जाता है कि राज्य के कार्यों का लाभ विशेषाधिकार-धारियों के लिए ही सीमित रहता है।

अधिकारों की इस भावना का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि किसी भी एक नागरिक को दूसरे नागरिक की अपेक्षा, केवल नागरिक होने की हैसियत से, अपनी माँगों की पूर्ति पाने का अधिक अधिकार नहीं है। जिन क़ानूनी विधि-निदेशों से नागरिकों के किसी समुदाय को भेदभाव-पूर्वक विशेष लाभ पहुँचे; उनसे जब तक यह सिद्ध न किया जासके कि इस भेदभावपूर्ण लाभ-प्राप्ति और समस्त समाज के कल्याण-प्राप्ति के बीच प्रत्यक्ष कारण-कार्यात्मक सम्वन्ध है, तवतक उनसे राज्य-संस्था के प्रयोजन पर आघात पहुँचता है, और उसका उद्देश्य खण्डित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि राज्य-संस्था माँगों की पूर्ति में भेदभाव की रक्षा करती है तो उसे यह सिद्ध कर सकना चाहिए कि ये भेद-भाव सर्व-साधारण के हित के लिए वाञ्छनीय हैं।

जो कोई आधुनिक सामाजिक जीवन की अवस्थाओं का विश्लेषण करेगा वह इस वात से अवश्य प्रभावित होगा कि व्यक्तिगत माँग की पूर्तियाँ असमान होती हैं। प्रयत्न और पुरस्कार के वीच विलकुल अनुपात नहीं है। राज्य-संस्था जो सुरक्षितता अपने नागरिकों को प्रदान करती है उसके समानीकरण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। उसके क़ानूनी विधि-निदेशों के कार्य वर्तमान विशेषाधिकारों की वृद्धि की अपेक्षा रक्षा अधिक करते हैं। समाज के धनी और निर्धन, दो विभागों में विभक्त होजाने के

कारण राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों से धनिकों को ही लाभ पहुँचता है। और इसका तात्पर्य है कि जिस साम्पत्तिक प्रणाली के नीचे हम रहते हैं उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यों के जीवनों को सञ्चालित करनेवाले क़ानूनी विधि-निदेशों का अर्थ-निर्णय पक्षपात-पूर्ण होजाता है। इससे समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की माँग की शक्ति इतनी भिन्न-भिन्न होजाती है कि, डिज़रेली के प्रसिद्ध शब्दों में, वर्ग एक ही राष्ट्र की अपेक्षा दो भिन्न-भिन्न राष्ट्र के मालूम होने लगते हैं।

राजनैतिक तत्वज्ञान इस परिस्थिति से यही निष्कर्ष निकाल सकता है कि यदि नागरिकों की स्थिति में बड़े-बड़े वास्तविक भेद होंगे तो राज्य-संस्था के उद्देश्य की रक्षा नहीं हो सकेगी। धनिकों और निर्धनों में विभक्त हुआ समाज वैसा ही है जैसे कोई कुटुम्ब अपने आपके विषय में विभक्त हो। जिस प्रकार निर्धनता से नीचेपन का भाव उत्पन्न होता है वैसे ही सम्पत्ति से वृथाभिमान उत्पन्न होता है। धनिक वर्ग अनिवार्य-रूप से अपने अधिक-से-अधिक लाभों की रक्षा का प्रयत्न करता है; और निर्धन लोगों को बाधित होकर उन लाभों के परिणामों का उपभोग करने के एक-मात्र उपाय-स्वरूप उन पर आक्रमण करना पड़ता है। इसलिए यदि राज्य-संस्था अपना उद्देश्य पूर्ण करना चाहती है, तो उसे बाधित होकर अपने कार्यों को इस प्रकार संगठित करना पड़ता है कि जिससे इस वास्तविक विषमता के परिणामों को जान-बूझ-कर कम किया जा सके। कर-शक्ति के द्वारा उसे निर्धनों की माँगों

को पूर्ण करने के लिए धनिकों से रुपया लेना पड़ता है। जो कोई यह देखेगा कि किस प्रकार पिछले पचास वर्षों में उन्नीसवीं शताब्दि का पुलिस-राज्य बीसवीं शताब्दि का समाज-सेवा-राज्य बन गया है, उसे ज्ञात होगा कि विषमता अपने अस्तित्व को रिआयतें देना स्वीकार करके ही क़ायम रख सकी है, जिसके लिए उसे व्यय भी देना पड़ता है। और ये रिआयतें परिमाण में बढ़ती ही जाती हैं। क्योंकि ग़रीबों के लिए शिक्षा या स्वास्थ्य या मकानों के प्रत्येक सुधार से अधिक रिआयतों की माँग तेज़ होजाती है। वे अनुभव करते हैं कि जो सामाजिक प्रणाली जीवन के श्रम और पुरस्कार को उचित अनुपात से सम्बन्धित नहीं करती वह अनुपयुक्त है। संक्षेप में, समानता की आकांक्षा मानवीय स्वभाव का स्थायी रूप है। जबतक कोई राज्य-संस्था इस भावना को सन्तुष्ट करने योग्य व्यवस्था नहीं करती तबतक वह सुरक्षित नहीं रह सकती; वह अपने सदस्यों को यह बात समझाना स्थगित कर सकती है कि उसके क़ानूनी विधि-निदेश, बाह्यरूप में ही नहीं बल्कि वास्तव में, न्याय की सामान्य प्राप्ति के लिए हैं, परन्तु इसको बिलकुल टाल नहीं सकती।

यहाँ हम कुछ सिद्धान्त उपस्थित करते हैं जो पूर्व-विचारित अधिकारों के दृष्टिकोण से उत्पन्न होते हैं। क़ानूनी विधि-निदेशों का कोई समूह स्थिर नहीं रह सकता। प्रति दिन वह भिन्न-भिन्न और प्रायः नवीन-नवीन परिस्थितियों पर प्रयुक्त किया जाता है। और तत्वज्ञान में यह मानी हुई बात है कि जो लोग नियमों को कार्या-

न्वित करते हैं वही वास्तव में उनके स्वामी होते हैं। क़ानूनी विधि-निदेशों का सदा अर्थ-निर्णय करना पड़ता है। स्वतन्त्रता-पूर्ण भाषण की सीमा-रेखा कहाँ खींचनी चाहिए; कोई संस्था समाज के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए ठीक कब विघ्न-स्वरूप हो जाती है; कोई विशेष कानून वाञ्छनीय है या नहीं है; क्या, उदाहरणतः, मजदूर-सङ्घों के स्वरूप से यह निष्कर्ष निकल सकता है या नहीं कि पार्लमेण्ट में उनको प्रतिनिधित्व मिले; क्या, जैसा कि संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) में हुआ, श्रम के घण्टों के निश्चित कर देने से इक़रार की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का भङ्ग हो जाता है या नहीं; इन और ऐसे ही अनेक प्रश्नों पर निर्णय करने पड़ते हैं। प्रत्येक प्रश्न में स्वार्थों के समानीकरण की बात समाविष्ट है; और इस बारे में स्पष्ट दृष्टि रखना सबसे पहले आवश्यक है कि यह समानीकरण कैसे प्राप्त किया जाता है।

जिस राज्य-संस्था में वर्गों के बीच में बड़े-बड़े वास्तविक वैषम्य हैं वहाँ होता यह है कि राज्य-संस्था के उद्देश्य धनिकों के हितों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। धनिकों की शक्ति अपनी इच्छाओं को राज्य-संस्था के कार्यकर्त्ताओं से सर्वप्रथम विचारणीय बनवा लेती है। उनकी कल्याण-सम्बन्धी विचार-दृष्टि शासन-तन्त्र के मानसिक वातावरण में अज्ञात रूप से व्याप्त होजाती है। वे राज्य-संस्था के तन्त्र पर प्रभाव डाल लेते हैं। न्याय से उनका तात्पर्य होता है उनकी मांगों की पूर्ति। इतिहास की शिक्षाओं से उनका अभिप्राय होता है उनके अनुभव का संग्रह। उदाहरणार्थ

जो कोई इङ्गलैण्ड के मजदूर-सङ्घ सम्बन्धी क़ानून का वहाँ के न्यायाधीश क्या अर्थ लगाया करते थे इसके इतिहास पर विचार करेगा, विशेषतः प्रसिद्ध ऑस्वॉर्न मामले के फ़ैसले के समान प्रकट किए हुए अर्थों पर विचार करेगा, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे विना नहीं रह सकता कि मध्यम वर्ग के न्यायाधीशों का मस्तिष्क श्रमिक वर्ग की आवश्यकताओं में प्रवेश ही नहीं कर सकता। जो कोई संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के 'चौदहवें संशोधन' के इतिहास को देखेगा, वह यह कहे विना नहीं रह सकता कि न्यायालय व्यापारी लोगों के साम्यवादी क़ानूनों की वृद्धि के विरुद्ध संग्राम करने के लिए हथियार रहे हैं। हाल में ही फ़िनलैण्ड में जो मताधिकार की अवस्थायें वदली गई हैं उसका इतिहास इस वात का प्रमाण है कि वहाँ के कारख़ानेदारों को मज़दूरी की दरें घटाने की सुविधा देने के लिए व्यवसाय-सङ्घ के सङ्गठन पर आघात किया गया है; इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य-संस्था के शासन-विधान की सारी व्यवस्था परिवर्तित की गई है। कम-से-कम आधुनिक समय में तो, ऐसा वहुधा नहीं होता, कि प्रजातान्त्रिक मशीनरी को विकृत करने का इतना नग्न प्रयत्न इतने वल-पूर्वक किया जाय।

मेरे कहने का निष्कर्ष यह है कि जहाँ मांग को परिणामकारी वनाने की शक्ति राज्य-संस्था के सदस्यों में वहुत भिन्न-भिन्न होती है, वहाँ राज्य-संस्था का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता; और ऐसा वैषम्य आर्थिक व्यवस्था के कारण होता है। इस दृष्टि से राज्य-

संस्था क़ानूनी विधि-निदेशों के कार्यों के लिए, सिवाय क़ानूनी औचित्य के, अन्य औचित्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति-समूह को अधिकार है कि वह उनकी प्रामाणिकता के विषय में अपना मत बनावे, और अपने निर्णय के परिणामों के अनुसार कार्य करे।

इससे क़ानून की एक व्याख्या निकलती है, जो राजनैतिक तत्वज्ञान के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह प्रतीत होता है कि क़ानून समाज की उस इच्छाशक्ति की पूर्ति है जिसने अपने आपको परिणामकारी बनाने की विधि जान ली है। क़ानून को मान्यता पाने का अधिकार केवल इसीलिए नहीं है कि वह बलवान है। उसका मान्यता पाने का अधिकार उस परिणाम के कारण है जो वह व्यक्तिगत नागरिकों के जीवनों पर करती है। इस परिणाम की जाँच भी केवल नागरिक ही कर सकते हैं; और इसीलिए क़ानून की न्याय्यता उसके सम्बन्ध में उन लोगों के निर्णय पर निर्भर है। इसलिए अपने उद्देश्यों के स्वरूप के कारण, राज्यसंस्था को अपनी अन्तर्गत संस्थाओं का इस प्रकार संगठन करना पड़ता है, कि उसके क़ानूनी विधि-निदेशों पर उसके नागरिकों का निर्णय पूर्णतया प्रकट हो सके, और उसको समानतया महत्व दिया जा सके। क्योंकि, अन्यथा राज्य-संस्था के परिणाम उपयुक्त बलशाली रीति से मालूम नहीं हो सकते। उसकी पूर्ति बलशाली नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित रह जाती है; और चूँकि उनका अनुभव शेष समाज के स्वार्थों से भिन्न है, अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वह पूर्ति उनके ही लाभ की ओर

प्रवृत्त होती है। ऐसी परिस्थिति में, राज्य-संस्था को मान्यता पाने का जो हक़ मिल सकता है वह उसकी सत्ता के विरोध के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होनेवाली गड़बड़ी के आधार पर ही मिल सकेगा। हम यह मान सकते हैं कि यह हक़ ज़बरदस्त है। चूँकि सत्ता के विरोध का मूल्य बहुत अधिक होता है इसलिए वह सदा अन्तिम शस्त्र होना चाहिए। यहाँ जिस दृष्टिकोण का ग्रहण किया गया है उसके अनुसार यह मानना कि वह कभी काम में नहीं आना चाहिए ग़लत होगा। क़ानून का विरोध करने का अधिकार समाज की एक ऐसी सञ्चित शक्ति है जिसके द्वारा जिन मनुष्यों की माँगों की पूर्ति नहीं की जाती, वे वैध रूप से राज्य-संस्था में शक्तियों के तारतम्य को बदलने की इच्छा कर सकते हैं।

इसलिए क़ानून माननीयता पाने का दावा करनेवाली एक ऐसी शक्ति है जिसकी प्रामाणिकता उसके परिणामों के अनुभव पर निर्भर है। क़ानून के दावे, और किसी व्यक्ति या व्यक्ति-सङ्घ के अनुभवों से निकले हुए किसी नियम के दावे के बीच, सिवाय इसके कि अपनी आज्ञाओं का पालन कराने के लिए राज्य-संस्था के पास बलप्रयोग है, अन्य कोई स्वाभाविक अन्तर नहीं है। राज्य-संस्था द्वारा बनाये हुए नियमों की प्रामाण्यता केवल बल के कारण है; और बल में स्वतः नैतिकता नहीं है। इसलिए जहाँ राज्य-संस्था किसी धर्म-संस्था के या किसी व्यवसाय-सङ्घ के या कम्यूनिस्ट दल जैसी किसी संस्था के सङ्घर्ष में आती है, वहाँ राज्य-संस्था को केवल इसलिए कि वह राज्य-संस्था है निष्ठा प्राप्त करने का हक़

नहीं है। उसका हक़, उस संघर्ष से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्यों के तद्विषयक दृष्टिकोण पर निर्भर रहता है। उसको विजय पाने का अधिकार तभी है जब वह अपने नागरिकों को यह सिद्ध करदे कि उसके क़ानूनों के परिणाम-स्वरूप उनके जीवन अधिक तत्वपूर्ण होजायँगे। उसका सर्वोपरित्व अपने सदस्यों के जीवनों को उत्तम बनाने की शक्ति के कारण है।

३

इस व्याख्या पर भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न आपत्तियाँ की जाती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यह कोई ऐसी सुन्दर व्याख्या नहीं है जिससे पूर्ण सुसम्बद्ध सामाजिक संस्थाओं का नमूना उपस्थित होता हो। यह न केवल अराजकता के लिए ही गुंजाइश रखती है, प्रत्युत बताती है कि ऐसे भी अवसर हो सकते हैं जब अराजकता उचित हो सकती है। यद्यपि यह राज्य-संस्था को क़ानूनी व्यवस्था की हैसियत से सर्वोपरि बताती है, तथापि तत्काल ही उस सर्वोपरि सत्ता में से शुद्ध क़ानूनी से अतिरिक्त सब प्रकार के महत्व को छीन लेती है। इस व्याख्या के अनुसार राज्य-संस्था को समाज की अन्य सब संस्थाओं के साथ नागरिकों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता करनी चाहिए; और यह जहाँ उनके बीच संघर्ष हो वहाँ राज्य-संस्था को विजय का अभिवचन नहीं देती। यह राज्य-संस्था के क़ानून को न्याय से बिलकुल पृथक् बताती है; और यद्यपि राज्य-संस्था का तात्वज्ञानिक प्रयोजन बताती है, तथापि उस प्रयोजन को उसके कार्यों में स्वाभाविक-रूपेण अन्तर्निहित नहीं मानती।

मैं यह नहीं कहता कि क़ानून की उपर्युक्त व्याख्या पर यहाँ गिनाई हुई सब आपत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। परन्तु क्या उनमें से एक भी आपत्ति महत्वपूर्ण है? कुछ भी हो, जीवन की समस्त अभिव्यक्तियाँ इतनी जटिल और भिन्न-भिन्न हैं कि वह एक सूत्र में बाँधी नहीं जा सकतीं। राज्य-संस्था में अराजकता की कुछ-न-कुछ सम्भावना तो तबतक अवश्य रहेगी जबतक मनुष्य परस्पर-विरोधी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए भिन्न-भिन्न रीति से प्रयास करते रहेंगे; और यह कोई नहीं कह सकता कि राज्य-संस्था की आज्ञा पालन करने से इनकार करना सदा औचित्य-रहित है। यह सत्य है कि इस व्याख्या के अनुसार राज्य-संस्था का सर्वोपरि स्वरूप केवल नैयमिक उद्गमस्थान बताने के लिए है। इसको इसके अतिरिक्त और कुछ मानना निश्चय ही तबतक असम्भव है, जब तक यह न पाना जावे कि उसके सब कार्यों में सदा बुद्धिमत्ता ही रहती है, जो अनुभव के प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यह भी सत्य है कि इस विचार-सरणि के अनुसार राज्य-संस्था को नागरिकों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए समाज की अन्य सब संस्थाओं के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ेगी। परन्तु, फिर भी, क्या यह बात वास्तव में स्पष्ट नहीं है कि राज्य-संस्था इस प्रकार प्रतियोगिता करती है? जो कोई, बिस्मार्क और रोमन कैथॉलिक मत के बीच, सिनफ़ीन और ब्रिटिश सरकार के बीच, रिसार्जीमेण्टो के समय में ऑस्ट्रिया और उसके इटैलियन नागरिकों के बीच, अथवा अन्तिम उदाहरण-स्वरूप ज़ारशाही रूस और क्रान्तिकारी संस्थाओं के बीच, के जैसे संघर्षों

के इतिहास पर विचार करेगा, उसे सचमुच यह कहना कठिन होगा कि जबतक राज्य-संस्था के सदस्यों की माँगें अपूर्ण रहती हैं तबतक वह अन्य शर्तों पर जीवित रही है या रह सकती है। और अमेरिका के मद्य-निषेध के अनुभव से यह बात बिलकुल स्पष्ट होजाती है कि जहाँ राज्य-संस्था के विधि-निदेशों का तत्व उन लोगों को न्यायोचित प्रतीत नहीं होता जिनपर वे लागू किये जाते हैं, वहाँ वह उनको उपयुक्त रीति से पालन करा सकने की आशा नहीं कर सकती।

कहा जाता है कि यह व्याख्या क़ानून को न्याय से पृथक् कर देती है। यह सचमुच एक को दूसरे से पृथक् करती है, परन्तु उसी प्रकार करती है जिस प्रकार हम जीवन-व्यवहार में करते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक क़ानून अन्याय-पूर्ण है, तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि क़ानून और न्याय के बीच में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है; इन दोनों के बीच की सन्धि-पूर्ति क़ानून के परिणाम द्वारा होती है वे जब इसे न्यायपूर्ण स्वीकार करते हैं, तब यह न्यायपूर्ण बनता है। संक्षेपतः बनाया हुआ क़ानून स्वभावतः न न्यायोचित होता न अन्यायोचित; उसका न्यायपूर्णता का गुण उसके प्राप्त करनेवालों द्वारा आरोपित किया जाता है। चूँकि क़ानून का प्रयोजन माँग को पूर्ण करना है, इसलिए वह अपने कर्तृत्व को पूर्ण करने की सफलता या असफलता के कारण ही अच्छा या बुरा बनेगा। और यह बात इसी प्रकार मालूम हो सकती है कि जो लोग इसके सम्पर्क में आवें वे इसके कार्य के

परिणामों पर अपना मत प्रकट करें। उदाहरणतः, यदि मताधिकार सम्बन्धी क़ानून मत-प्रदान के अधिकार को केवल पुरुषों के लिए ही सीमित रखता है और यदि स्त्रियाँ उसको अन्यायपूर्ण कहकर निन्दित ठहराती हैं, तो हम यह नहीं कह सकते कि क़ानून न्याय-पूर्ण है। यदि १६२७ के ब्रिटिश-व्यवस्था-संघ सम्बन्धी क़ानून को व्यवसाय-संघ-वादी लोग व्यापकरूप से वर्ग-विशेष का हितरक्षक बताकर निन्दित ठहराते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि वह न्यायपूर्ण है। यह दोनों विधान क़ानून हैं, क्योंकि यह उस सत्ता द्वारा प्रकाशित किये गये हैं जिसको इस विषय में क़ानून बनाने का नियमानुसार अधिकार है; परन्तु दोनों तबतक न्यायोचित नहीं हो सकते जबतक कि जिन लोगों पर इनके परिणाम होवेंगे वे इन्हें स्वीकार न करें।

राज्य-संस्था का अस्तित्व जिस तात्वज्ञानिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए है वह इस व्याख्या के अनुसार इसके कार्यों में नहीं पाया जाता, इस आपत्ति से भी हमें प्रभावित होना आवश्यक नहीं है। यह भी प्रत्यक्ष वास्तविकता है। क्या आजकल की परिस्थिति में प्रत्येक नागरिक का जीवन ऐसा है कि वह अपनी सारी निहित शक्तियों को पूर्ण विकसित कर सके? तात्पर्य यह है कि क्या राज्य-संस्था वास्तव में उसको वह समस्त अधिकार दे देता है जिनके बिना उसके व्यक्तित्व की पूर्णता का होना मैंने असम्भव बताया है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा मार्ग नहीं है जिससे हम ठीक तरह से राज्य-संस्था के स्वरूप का निर्णय कर सकें। कोई भी व्यक्ति ईमा-

नदारी से नहीं कह सकता कि सन् १७८६ से पहले की फ्रांस की राज्य-संस्था या सन् १९१७ से पहले की रूस की राज्य-संस्था अपने सारे प्रजाजन के हितकारी क़ानूनी विधि-निदेश बनाती थी, और उसके प्रजाजन उनको हितकारी समझते थे। यदि इसका यह उत्तर दिया जाय कि राज्य-संस्था को इतना श्रेय तो देना ही चाहिए कि उसमें कल्याण भावनायें या यथाशक्ति प्रयत्न करने की इच्छा तो थी, तो निश्चय ही इसका प्रत्युत्तर यह होगा कि इस मामले पर केवल उसके कार्यों के परिणामों पर रहनेवाले लोग ही निर्णय दे सकते हैं। १७८६ में फ्रान्सवासियों और १९१७ में रूसवासियों ने स्पष्टतया निर्णय किया था कि जिस पद्धति के नीचे हम रहते हैं वह हमारी माँगों को पूर्ण नहीं करती, जिनके पूर्ण होने का अधिकार हमारे मतानुसार हमको है। मैं नहीं समझता कि हम कैसे इस निर्णय के विरुद्ध जा सकते हैं।

४

निष्कर्ष यह है कि यदि किसी राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों को न्यायोचित मानना हो तो उनको राज्य-संस्था जिस उद्देश्य को पूर्ण करना चाहती है उस दृष्टि से देखना चाहिए; दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वे हेतुहेतुमद्रूप में लिखे हुए स्थायी निबन्ध हैं। और यदि हम राज्य-संस्था को इस दृष्टि से देखें तो निष्कर्ष यह निकलता है कि वह एक निक्षेप (ट्रस्ट) है, और उसकी सफलता (वचनपूर्ति) का निर्णय वे लोग करेंगे जिनको अधिकार है कि उसके कार्यों से लाभ पाने की आशा करें।

अब यदि सूक्ष्म विवेचन करके देखें तो कह सकते हैं कि सरकार कुछ ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो राज्य-संस्था के नाम से आज्ञायें निकालते हैं। उनके हाथ में शक्ति का रहना उनकी बुद्धिमत्तापूर्वक आज्ञायें निकालने की योग्यता पर निर्भर है। वे भिन्न-भिन्न अंश में गुरुता रखनेवाली असंख्य मांगों से घिरे रहते हैं, जो उनसे पूर्ति चाहती हैं। सरकार की हैसियत से उनके कार्यों की बुद्धिमत्ता माँगों की अधिक-से-अधिक पूर्ति करने की योग्यता पर निर्भर है। और मांगों की अधिक-से-अधिक पूर्ति करने के लिए, वे अपने प्रजाजन के मतों और इच्छाओं को जितनी अधिक पूर्णता से जानेंगे उतनी ही अच्छी तरह वे अन्दाज़ लगा सकेंगे कि उन्हें कौन-सी नीति ग्रहण करनी चाहिए। इसी कारण समाज में स्वतन्त्रता और समानता महत्वपूर्ण हैं। स्वतन्त्रता के कारण ही यह सम्भव है कि मांगें विधिवत उपस्थित की जा सकें; और समानता के कारण ही हमें यह विश्वास हो सकता है कि उनपर उचित ग़ौर किया जायगा।

स्वतन्त्रता और समानता दोनों तभी रहती हैं जब कि वे अधिकार, जिनका मैंने वर्णन किया है, राज्य में सक्रिय रूप से प्रयोग में आते हों। परन्तु चूँकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिए यह भी सत्य है कि राजनैतिक रूप से वह परम्परा के हाथ की कठपुतली है। वह व्यक्ति की हैसियत से अपनी शक्ति को प्रायः नहीं पहचानता; और यदि पहचानता हो तो भी व्यक्ति की हैसियत से अपनी आवश्यकताओं पर ध्यान आकर्षण करने योग्य तो

प्रायः बिलकुल नहीं होता। आधुनिक राज्य आकार-विस्तार में इतने बड़े हैं कि व्यक्ति की आवाज़ तो उनमें अरण्यरोदन के समान होजाती है। व्यक्ति जब अपने समान विचार रखनेवाले अन्य व्यक्तियों के साथ अपने अधिकारों को मनवाने के लिए सङ्गठित होता है, तभी आशा हो सकती है कि उसकी माँग परिणामकारी होगी। इसीलिए संस्थाओं या संघों का बहुत बड़ा महत्व है। वे इस बात का ज्ञान कराते हैं कि जिस अनुभव पर कदाचित् अन्यथा ध्यान न दिया जासके उसका कितना महत्व है। वे मनुष्यों के स्वयं किये हुए उन प्रयत्नों के फलस्वरूप हैं जिन्हें उन्होंने दुनिया में अपने लिए स्थान प्राप्त करने के लिए किया था। निःसन्देह सभी प्रकार के संघ राज्य-संस्था के प्रयोजन के लिए सङ्गत नहीं हैं; उदाहरणार्थ, क्रिकेट-सङ्घ प्रायः राजनैतिक सम्बन्ध नहीं रखता। परन्तु कई संस्थाओं की सफलता अपने प्रयत्नों के परिणाम को राज्य-संस्था के क़ानूनों के रूप में परिवर्तित करने की अपनी शक्ति पर ही निर्भर है। कारख़ानेदारों का संघ, मजदूर-संघ और राष्ट्रीय अभिनय-शाला की उन्नति करनेवाली संस्था, ये सब अपनी इच्छाओं को राज्य संस्था की इच्छा में समाविष्ट करवाना चाहती हैं। उनके अस्तित्व की सार्थकता राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों के तत्व को बदलने का प्रयत्न करने के कारण ही है।

और, स्वेच्छानिर्मित सङ्घ आवश्यकताओं को पूर्ण करने की अपनी शक्ति द्वारा जीवित रहते हैं। राज्य-संस्था इन्हें जीवन-प्रदान नहीं करती; और वे १८२४ से पहले के ब्रिटिश मजदूर-सङ्घों की

भाँति बहुधा राज्य-संस्था की अप्रसन्नता के होते हुए भी जीवित रहते हैं। वे मनुष्यों की अनुभवजन्य आवश्यकताओं के स्वयमुद्भूत व्यक्तरूप हैं। चूँकि समाज की जीवन-प्रवृत्ति इतनी विस्तृत है कि उसपर केवल राज्य-संस्था द्वारा ही शासन होना चाहे अभीष्ट भी हो पर असम्भव है, इसलिए उसकी प्रगति का बहुत कुछ भाग इन सङ्घों पर ही निर्भर है। सचमुच यह कहा जा सकता है कि समाज में सङ्घ-जीवन जितने विविधप्रकार का होगा, उसको मिलने-वाला संतोष भी उतना ही पूर्ण और उत्कृष्ट होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य-संस्था सङ्घों के जीवनों में जितना कम हस्तक्षेप करेगी, दोनों के लिए उतना ही अच्छा होगा। उसकी सर्वोपरि सत्ता उनके ऊपर यथाशक्य केवल नैयमिक (formal) और अप्रदर्शित रहनी चाहिए। उसे उनके अस्तित्व रखने के स्वाभाविक अधिकार को स्वीकार करना चाहिए; और उसे यह भी मानना चाहिए कि जीवन के कुछ ऐसे पहलू भी हैं, उदाहरणतः धार्मिक पहलू, जिनपर यदि वह अपनी प्रधानता का ज़ोर डालने का प्रयत्न करेगी तो उसका परिणाम सामाजिक अवनति होगा। क्योंकि जहाँ मौलिक विश्वासों का सम्बन्ध है, वहाँ नागरिकों के लिए अपनी विचार दृष्टि को व्यक्त करने के लिए स्वेच्छापूर्वक चुने हुए सङ्घ जितना आकर्षण रख सकते हैं उसके सामने राज्य-संस्था की आज्ञा सारहीन और निरर्थक प्रतीत होगी। इस सम्बन्ध में, राज्य की सर्वोपरि सत्ता इतनी भावनायुक्त नहीं होती कि उसके प्रति परिणामकारी और सफल निष्ठा होसके।

इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वास्तव में प्रत्येक समाज स्वरूपतः बहुघटनात्मक (सङ्घीय) है। नैयमिक क़ानून की बात छोड़ दें तो राज्य-संस्था अन्य संस्थाओं के समान ही एक है, उनसे अधिक और उच्च नहीं है। उसके क़ानूनी विधि-निदेशों को सफलता इसलिए मिलती है कि उनका अन्य संस्थाओं द्वारा अपने सदस्यों के लिए बनाये हुए विधि-निदेशों के साथ सजीव (आनन्दप्रद) सम्बन्ध होता है। और राज्य-संस्था को वास्तव में अधिकांश-रूप से उन्हीं संस्थाओं में पाई जानेवाली उन माँगों को क़ानून का रूप देना चाहिए जिनसे समाज में सबसे अधिक सम्पूर्ण सन्तोष हो सके। और उसे, जिन मनुष्यों पर क़ानून के कार्यों का परिणाम होनेवाला है, उनसे विचार-विमर्श का पूर्ण प्रयत्न किये बिना क़ानून बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। क्योंकि सफल क़ानून प्रायः सदा वही होता है जिसके साथ अधिक-से-अधिक अनुभव का संग्रह हो। उदाहरणतः प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि इङ्गलैण्ड की 'स्वास्थ्य-बीमा' जैसी योजना को सफलता तभी मिली है जब उसके बनने से पहले प्रत्येक बात पर डाक्टरों के संघों और प्रतिष्ठित संस्थाओं से विचार-विमर्श किया गया था। इस क़ानून ने अच्छा काम इस-लिए दिया है कि उसको लागू करते समय प्रत्येक पद पर जिन मनुष्यों को उसके विषय का अनुभव है या जिनका उसके कार्य के परिणाम से सम्बन्ध है उनको पूर्ण विश्वास दिलाने का हर तरह प्रयत्न किया गया है। जिन लोगों पर क़ानून का परिणाम

होता है उनके साथ होनेवाला विचार-विमर्श, चाहे मतैक्य पैदा करे, कम-से-कम उसके मन पर इतना प्रभाव तो उत्पन्न करता ही है कि निर्णयों के करने में उनके ज्ञान का प्रयोग किया गया था। क़ानून बनानेवाली इच्छाशक्ति तो राज्य-संस्था की ही रही, परन्तु क़ानून बन जाने तक का क्रम ऐसा रहा जिससे नागरिकों में यह भावना उत्पन्न नहीं हुई कि राज्य-संस्था उनसे ऊंची या उनके विरुद्ध है। वे अपने अन्दर उत्पादक आनन्द की उस भावना को अनुभव करते हैं जो क़ानून-निर्माण-क्रम के सक्रिय और आवश्यक अङ्ग होने के फलस्वरूप पैदा होती है।

यह उदाहरण एक महत्वपूर्ण सत्य का दिग्दर्शन कराता है। चूँकि समाज आवश्यकरूप से बहुघटनात्मक है, इसलिए क़ानून का अद्वैतसत्तात्मक रूप जितना शुद्ध नैयमिक रहेगा समाज के लिए उतना ही अच्छा होगा। स्वार्थघटक, जिन्हें हम संस्थायें (या संघ) कहते हैं, शासनक्रम के साथ, जितना पूर्णता से सम्बन्धित रहेंगे, उतना ही सफल न केवल बनाये जानेवाले क़ानून का तत्व ही होगा बल्कि उसके बन जाने के बाद उसका कार्य भी शासन-विधानानुसार चुनी हुई सरकार, जबतक वह सरकार है, अपने निर्णय स्वयं करने के अधिकार को छोड़ नहीं सकती; परन्तु साथ ही यह बात भी माननी पड़ेगी कि सम्भवतः वही सरकार सरकार रह सकती है जो अपने नागरिकों को यह विश्वास दिला दे कि वह उनकी माँगों को पूर्ण करने के प्रयत्न करती है। और एक बार जब हम स्वेच्छा-संस्थाओं का समाज में भाग मान

लेते हैं तो उस विश्वास को उत्पन्न करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है कि उन संस्थाओं को शासन-संचालन के क्रम के साथ प्रत्यक्षतः और पूर्णतः सम्बन्धित कर दिया जावे। जिस परिवर्तन का जिन मनुष्यों के जीवन पर प्रभाव पड़ता है उसके विषय में यदि उनसे विचार-विमर्श नहीं किया जाता तो उनके हृदय में उसकी न्याय्यता के विषय में विश्वास या उसकी सम्भावनाओं के विषय में सदिच्छा उतनी नहीं हो सकती जितनी उन मनुष्यों के हृदय में हो सकती है, जो यद्यपि जानते हैं कि उनके अनुभव को ग्रहण नहीं किया गया फिर भी अनुभव करते हैं कि उनकी विचार-दृष्टि को समझने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। आधुनिक सरकारों की बहुत कुछ असफलता इस कारण हुई है कि उनकी संस्थायें, जिन स्वार्थों को सन्तोष देना चाहिए, और अपनी कार्य-प्रगति से जिनको सहयोग और रक्षा प्रदान करना चाहिए, उनके विरुद्ध पड़ती हैं।

इसके अतिरिक्त, इस मत से, एक और सिद्धान्त निकलता है जिसका महत्व कुछ कम नहीं है। चूँकि समाज स्वरूपतः बहुघट-नात्मक है इसलिए राज्य-संस्था में शक्ति जितने व्यापक रूप से बिखरी हुई होती है उसके कार्य भी उतने ही सफल होते हैं। इसके औचित्य के लिए तीन मौलिक कारण हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्यों पर क़ानूनों के परिणाम के लिए जितना उत्तर-दायित्व होगा, वे उसके परिणाम के विषय में उतनी ही रुचि रखेंगे। अत्यन्त केन्द्रीकृत राज्य-संस्था में, आज्ञापालन सजीव

(आनन्दप्रद) कभी नहीं होता। वह जड़वत् और निष्क्रिय होता है; और उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग की भावना जो गुरुतापूर्ण अवसरों पर सदा आवश्यक होती है, आवश्यकता पड़ने पर नहीं पाई जाती। दूसरी बात यह है कि केन्द्रीकरण समान-रूपता पैदा करता है; उसमें काल और देश का ध्यान नहीं रहता। उसके कार्य इतने बड़े परिमाण में होते हैं कि नये प्रयोगों का होना दुष्कर होजाता है, और असफलता का मूल्य प्रायः इतना अधिक होता है कि कोई भी शासन-संचालक, जिसका प्रथम सिद्धान्त कम-से-कम ग़लती करना हो नवीनता की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। और अन्तिम बात यह है कि केन्द्रीकरण का परिणाम होता है शासन-कार्य में समय की समस्या के साथ न चल सकना। मन्त्रि-मण्डल और व्यवस्थापिका सभा जैसी संस्थायें दिन में निश्चित घण्टे ही काम कर सकती हैं। केन्द्रीभूत प्रणाली में उनके निबटाने के लिए बहुत अधिक संख्या में और बहुत प्रकार के प्रश्न रहते हैं। इस कार्यभार का फल यह होता है कि जिन अनेक बातों पर विचार किया जाना चाहिए उनपर विचार ही नहीं किया जाता, और बहुधा जिस बात पर पूर्णतम विचार करने की आवश्यकता होती है उसपर जल्दी-जल्दी में बहस कर ली जाती है। इस स्थिति से उत्पन्न होनेवाले खतरों का एक महत्वपूर्ण उदाहरण आजकल ब्रिटेन की राजनैतिक संस्थायें उपस्थित करती हैं। जिस पार्लमेण्ट पर भारतवर्ष का उत्तरदायित्व है/उसको उसके प्रश्नों पर बहस करने के लिए वर्ष में सामान्यतः केवल दो दिन मिल पाते

हैं; और मन्त्रिमण्डल बजट को पहली बार हाउस आव कामन्स में पेश होने के कुछ घण्टे पहले ही देख पाता है।

सौ वर्ष पहले तो केन्द्रीकरण आजकल से कम भयङ्कर था, क्योंकि उस समय राज्य-संस्था के कार्यों का क्षेत्र बहुत ही छोटा था। आजकल की भाँति, जहाँ राज्य-संस्था की उंगलियाँ समाज-रूपी भवन के प्रत्येक कोने और सन्धि में गहरी पहुँचती हैं, वहाँ तो शीघ्र और स्थित्यनुकूल कार्य करना आवश्यक होता है, परन्तु इसके लिए मेरे विचारानुसार एक ऐसी निष्केन्द्रीभूत राज्य-संस्था होनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत ऐसी संस्थायें हों, जिनका उसके कर्तृत्वों से उपयुक्त सम्बन्ध हो। इस समस्या का स्वरूप केवल भौगोलिक ही नहीं है। निःसन्देह यह तो आवश्यक है कि लन्दन और मेंचेस्टर, न्यूयार्क, बर्लिन और पेरिस नगर स्थानीय स्वरूप के मामलों में केन्द्रीय सरकार के प्रति पूर्ण उत्तरदायी और उसकी ओर से पूर्ण स्वतन्त्र होने चाहिएं; और उन्हें स्थानीय मामलों में नवीन-नवीन प्रयत्न करने के लिए उस सरकार से अधिकार लेने की आवश्यकता न रहनी चाहिए। परन्तु, समानरूप से, यह समस्या कर्तृत्व सम्बन्धी भी है। जिस तरह लङ्काशायर या कान्सस या बेडन को शासन-सम्बन्धी अपनी उचित संस्थाओं की आवश्यकता है, उसी प्रकार सूती वस्त्र-व्यवसाय जैसे स्वार्थ-घटकों को भी अपने योग्य शासन-सम्बन्धी संस्थाओं की कम आवश्यकता नहीं है। उनका भी एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें, उपयुक्त संरक्षणों के साथ, उनको अपने शासन-कार्य के लिए ठीक उसी प्रकार के

नियम वनाने की आवश्यकता है जिस प्रकार वीयना या लिवरपूल या टोकियो नगर को। सारे क़ानून-निर्माण को, अथवा सारे ही न्याय-विज्ञान को प्रादेशिक आधार पर रखना समाज में काम करनेवाले स्वार्थों के स्वरूप को गलत समझना होगा। जवतक हम राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों को समय-समय पर उन के लिए उपयुक्त होनेवाली संस्थाओं से सम्बन्धित नहीं कर सकेंगे। आधुनिक सभ्यता की वहुत कुछ उद्विग्नता इस कारण रही है कि, राज्य-संस्था जिस समाज का सूत्र-सञ्चालन करती है उसमें उसकी संस्थायें, अन्य परिवर्तनों, विशेषतः आर्थिक परिवर्तनों, के साथ नहीं चल सकीं।

५

इस विवेचन का सार यह है कि राजनैतिक तत्वज्ञान में हमें सब से अधिक आवश्यकता राज्य-संस्था सम्बन्धी ऐसी व्याख्या ढूँढ निकालने की है जिसका लक्ष्य क़ानून का निरन्तर समाजीकरण (Socialisation) करना हो। आधुनिक राज्य-संस्था की निर्बलता उन धारणाओं के कारण है जिन पर उसके क़ानूनी विधि-निदेश अवलम्बित हैं। वह समस्त सामाजिक प्रणालियों की भाँति न्याय के किसी विशेष विचार को लेकर सङ्गठित है। परन्तु उस विचार के अनुसार व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी माना जाता है, और उसमें उसकी रक्षा करने का ही सबसे अधिक ध्यान रक्खा गया है। वह अठारहवीं शताब्दि का तत्वज्ञान है; वह स्वेच्छाचारी शक्ति के आक्रमण से अपने आपको संरक्षित करने की मध्यमवर्ग की

अभिलाषा का व्यक्त रूप है। परन्तु जो स्वतन्त्रता और सामानता उसके अनुसार मिलती है वह सम्पत्ति-स्वामी की स्वतन्त्रता और समानता है; इस विचार-दृष्टि से जो कोई फ्रान्स और जर्मनी के दीवानी क़ानूनों का परीक्षण करेगा उसे उनके आधारभूत सिद्धान्तों पर से यह जानना कठिन होगा कि ऐसे स्त्री पुरुष भी बहुत हैं जिनके पास काम में लाने के लिए अपनी श्रम-शक्ति के सिवाय अन्य सम्पत्ति नहीं है। उस विचार के अनुसार ऐसे मनुष्यों की इक़रार की स्वतन्त्रता सुरक्षित की गई है। परन्तु यह कल्पना करना कि इनके हाथों में इनको काम देनेवाले कारखानेदारों के मुक़ाबले में इक़रार की स्वतन्त्रता रहती है केवल भ्रम है। इसलिए हमारे सामने आवश्यकता इस इस बात की है कि जो विशेषाधिकार हमारे विधि-निदेश प्रदान करते हैं उनको वास्तव में सारे नागरिकों के समूह के लिए विस्तृत कर दिया जाय।

वास्तव में आज हमारी स्थिति, रोम के साधारण वर्ग के लोगों की जो स्थिति विशेष न्यायमण्डल और 'बारह टेबल' के क़ानून की व्यवस्था द्वारा संरक्षण मिलने से पहले थी, उससे कुछ भिन्न नहीं है। ये दोनों व्यवस्थायें न्याय के विचार के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करने के प्रयत्न थे। जिस प्रकार पहले जिन साधारण लोगों के पास कोई ख़ास सम्पत्ति नहीं थी उनके वास्ते क़ानून भी नहीं थे, ठीक इसी प्रकार आजकल जो नागरिक सम्पत्तिहीन है वह उन अधिकारों को वस्तुतः उपयोग नहीं कर सकता जो सिद्धान्ततः उसको मिले हुए हैं। और चूँकि वह मानसिक और आर्थिक दोनों

प्रकार की स्वतन्त्रताओं को अधिकाधिक पहचानता जाता है, और उसने राष्ट्रीय शिक्षा और मज़दूर-संघ इन दोनों को राज्य-संस्था से स्वीकार करवा लिया है, इसलिए वह राज्य-संस्था के न्याय-सम्बन्धी विचार को इस प्रकार विस्तृत करवा रहा है कि जिसमें उसके स्वार्थों का समावेश सम्पत्ति-स्वामियों से कम न हो। निःसन्देह, मार्ग में अनेक बाधायें हैं। उसकी माँगों पर जो रिआयतें-पूर्ति प्रदान की जाती हैं वह उतनी ही आंशिक होती हैं जितनी कि रोम के कुलीन-वर्ग के मनुष्य साधारण-वर्ग के मनुष्यों के लिए प्रदान करने को तैयार थे; किसी भी एक पक्ष पर एक ही रीति से प्रणाली नहीं बदलती। उदाहरणतः, मज़दूर-संघों द्वारा निश्चित की हुई आदर्श कोटि की शर्तों के बाहर व्यक्तिगत श्रमजीवी की इक़रार-स्वतन्त्रता के रक्षण से मज़दूर-मालिक के विशेषाधिकारों का संरक्षण भी उतना ही होजाता है, जितनी कि रोम की व्यवस्थापिका-सभा में वहाँ के कुलीन-जनों की प्रधानता के कारण उन्हें प्राप्त था। अब भी न्याय-विज्ञान में परम्परा और रूढ़ियाँ श्रमिक-वर्ग के विरुद्ध उतनी ही पड़ती हैं जितनी कि उस समय जब कि रोम के पुरोहित-वर्ग ने क़ानून के नियमों और क्रमों को एक रहस्य बना रक्खा था और जिन्हें फ्लेवियस के समय से पहले कोई भी साधारणवर्ग का मनुष्य समझ नहीं सकता था।

रोमन क़ानून का परिणाम यह हुआ कि जन्म के समय व्यक्ति की जो पद-मर्यादा निश्चित थी उससे उसकी मुक्ति तो हुई, परन्तु कहना पड़ेगा कि वह आंशिक मुक्ति ही थी। हमारे साथ

भी ऐसा ही होरहा है। नई आर्थिक व्यवस्था का मतलब ही यह है कि क़ानूनी विधि-निदेशों के तत्व में भी परिवर्तन होगया है; उसके कारण क़ानूनी विधि-निदेशों को अधिक विस्तृत माँगों की पूर्ति का प्रयत्न करना पड़ता है, अन्यथा वे क़ानूनी विधि-निदेश ही न रहें। नई आर्थिक व्यवस्था का परिणाम होगा सार्वजनिक मताधिकार; सार्वजनिक मताधिकार का परिणाम होगा राजनैतिक संस्थाओं को काम में लाने की शक्ति पर जनसमुदाय का अधिकार वे निश्चय ही उस शक्ति से क़ानूनी विधि-निदेशों का इस प्रकार प्रयोग करेंगे कि जिससे राज्य-संस्था की प्रवृत्तियों के कारण अभी तक अपूर्ण रही हुई उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। जो बातें एक ही पीढ़ी पहले राजनीतिज्ञों द्वारा अव्यवहार्य समझी जातीं, वही उनकी सत्ता के कारण स्वाभाविक न्यायपूर्ण प्रतीत होने लगती हैं। जिस तरह उनके पूर्वाधिकारी अपनी प्रधानता के हितों के अनुकूल अवस्थायें समाज पर लादते थे ठीक उसी प्रकार वे भी लादते हैं क़ानून, सदसद्-विचार, धर्म, यह सब जीवन की नई धारा की दृष्टि का अनुसरण उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार अन्य वर्गों के पास शक्ति होने के समय करते थे। उन्हें जिन विचारों की आवश्यकता होती है, उनको वह उसी प्रकार पूज्यता के पद पर पहुँचा देते हैं जिस प्रकार पूर्ववर्ती सामाजिक पद्धतियों में अन्य विचारों को वह पद प्राप्त था। क्योंकि जो वर्ग राज्य-संस्था पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है, वह जिन लोगों से शक्ति छीनता है केवल उनको लूटने की शक्ति ही नहीं चाहता; बल्कि आजकल

के सोविएट रूस की तरह यह भी चाहता है कि उसकी लूट न्याय्यता के अनुकूल समझी जाय; और जिन लोगों के विशेपाधिकारों का जिन सिद्धान्तों के अनुसार हरण हुआ है वे ही लोग उन सिद्धान्तों की न्यायोचितता को स्वीकार करें। अतः, भूतकाल में समाज सम्पत्ति पर होनेवाले आक्रमण को घोरतम पाप समझता था; और वह उस मनुष्य को आदरणीय समझने को तैयार था जो अपने पड़ौसी की चीजें लेने की अपेक्षा अपने स्त्री और बच्चों को भूखों मरने देता था।

जैसा कि मैंने दर्शाया है आजकल जो होरहा है वह है क़ानून के क्षेत्र का विस्तार। जिन अधिकारों का होना मैंने आधुनिक सामाजिक अवस्थाओं में स्वाभाविक रूपेण आवश्यक बताया है, वे केवल नैतिक दावे न रहकर अब निश्चित क़ानूनी कर्तव्य बनते जा रहे हैं। व्यक्ति की सम्पत्ति इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य-संस्था द्वारा जान-बूझकर छीनी जारही है। सम्पत्ति-स्वामित्व से होनेवाली जिन सुविधाओं का उपभोग आजकल सम्पत्ति-स्वामी राज्य के शक्तियोग के बिना भी करते हैं, उनकी व्यवस्था अब राज्य-संस्था द्वारा उन्हीं सम्पत्ति-स्वामियों के ख़र्चे पर जनसमुदाय के लिए अधिकाधिक होरही है। और यह अधिकार-पूर्ति, सामाजिक पद्धति में, आर्थिक शक्ति के महत्व में परिवर्तन होने के कारण, न्याय सम्बन्धी अधिक विस्तृत विचार फैल जाने का परिणाम है।

अन्त में दो बातें और कहने योग्य हैं। यह समझने का कोई कारण नहीं है कि उक्त क्रम अनिवार्य ही है; और न हम आवश्यक रूप से यह मान सकते हैं कि वह शान्तिपूर्वक ही पूर्ण हो जायगा। पहली बात के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि वर्तमान आर्थिक विकास का स्वरूप ही इस प्रकार का है कि जिसके कारण सत्ता जनसमुदाय के हाथ में जारही है, और उसके साथ-साथ क़ानूनी विधी-निदेशों का बल किसी छोटे वर्ग के स्वार्थ के स्थान पर जनसमुदाय के स्वार्थ की ओर अधिक होता जा रहा है। परन्तु यदि आर्थिक पद्धति किसी अप्रतीक्षित दिशा में अचानक बदल होजाय तो उस परिवर्तन के फलस्वरूप जिनके हाथ में शक्ति पहुँचेगी, वे निश्चय ही अधिकारों के तत्त्व को अपने हित के लिए परिवर्तित कर लेंगे।

इसी प्रकार हम परिवर्तन के निश्चय ही शान्तिपूर्वक होजाने के विषय में भी विश्वास नहीं कर सकते। मनुष्य न्याय-सम्बन्धी अपने विचारों पर दृढ रहते हैं; और प्रायः ऐसा नहीं होता कि वे अपनी शक्ति को स्वेच्छा से त्याग देते हों। प्रतीत होता है कि क़ानूनी सत्ता और राजनैतिक शक्ति के बीच सादृश्य उत्पन्न करने के लिए माँग-पूर्ति करते जाने का सतत-प्रयास ही शान्ति है। जहाँ यह सादृश्य किसी शासन-विधान की रचना के अन्दर रहते हुए प्राप्त नहीं किया जा सकता, वहाँ नई व्यवस्था अपनी इच्छा को बलपर्वक लागू करती है। ऐसा परिवर्तन सर्वनाश के समान प्रतीत हो सकता है; क्योंकि आधुनिक सभ्यता ऐसे जटिल

और क्षिप्र-भङ्गुर तन्त्रों पर निर्भर है कि जिन पर यदि किसी पर्याप्त परिमाण में वलप्रयोग किया जाय तो वे बच नहीं सकती। इस-लिए बुद्धि तो यही बताती है कि सन्तत सुधार की नीति रक्खी जानी चाहिए; परन्तु मनुष्य पूर्णतया केवल विवेकशील प्राणी ही नहीं है, और इसका भी कोई विश्वास नहीं है कि विवेक ही विजयी होगा।

: ३ :

राज्य-संस्था का संगठन

१

राज्य-संस्था के सङ्गठन की समस्या उसके प्रजाजन और क़ानून के बीच के सम्बन्ध की समस्या है। सम्भव है क़ानून के बनाने में प्रजाजन का हाथ हो; इस दशा में राज्य-संस्था भिन्न-भिन्न अंश में प्रजातन्त्र राज्य-संस्था होगी। अथवा, सम्भव है कि क़ानून-निर्माण में प्रजाजन का कोई भाग न हो और वह उनपर लादा जाता हो; इस दशा में राज्य-संस्था भिन्न-भिन्न अंश में एक-तन्त्र राज्य-संस्था होगी।

दोनों प्रकार के सङ्गठन शुद्ध रूप में नहीं रह सकते। पूर्ण प्रजातन्त्र राज्य-संस्था निर्णयार्थ उठनेवाले सब मामलों में अपने सब नागरिकों से सलाह लेगी; और शुद्ध एकतन्त्र राज्य-संस्था राज्य के सारे विधि-निर्देशों को स्वयं ही बनायगी और स्वयं ही लागू करेगी। आधुनिक आकार-विस्तार के समाजों में दोनों प्रकार के सङ्गठनों को इस आधार पर कार्य करना व्यावहारिक रूप से असम्भव है।

सामान्य जीवन में तो वास्तव में हमें सम्मिश्रित रूप की राज्य-संस्थायें मिलती हैं। कुछ समाजों में, जैसे फ्रांस या ग्रेट-ब्रिटेन में, प्रजातान्त्रिक तत्व प्रधानता रखता है; कुछ समाजों में, जैसे रूस या इटैली में, एक-तान्त्रिक तत्व का बल अधिक स्पष्ट है। जितने प्रकार के सम्मिश्रण हो सकते हैं, सब पाये जाते हैं। कहीं तो प्रजातन्त्रीय व्यवस्थापिका के साथ-साथ ऐसी कार्यकारिणी होती है जिसकी शक्तियाँ एकतन्त्र-प्राय होती हैं। कहीं, स्वीज़रलैण्ड की भांति, व्यवस्थापिका, जो स्वयं निर्वाचक-मण्डल द्वारा नियन्त्रित है, कार्यकारिणी पर पूर्ण प्रभुत्व जमाये हुए है। और कहीं, संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की भांति, व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी दोनों के अधिकार का निर्णय न्याय-विभाग (न्याय-कारिणी संस्था) करता है, जिसकी शक्ति स्वयं भी वैधानिक संशोधन के अधीन है।

प्रत्येक विद्यमान राज्य-संस्था के रूप उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं द्वारा निर्धारित हुए हैं; और प्रत्येक जाति के अनुभवों से उनके जीवन-व्यवहार को जो पृथक्-पृथक्, थोड़ा-थोड़ा अन्तर रखनेवाली, सुन्दर-सुन्दर विशुपतायें प्राप्त हुई हैं, उनके कारण यह कहना असम्भव है कि एक विशेष पद्धति दूसरी पद्धति से श्रेष्ठ है। हम इतना ही कह सकते हैं कि, सामान्यतः एकतन्त्रीय की अपेक्षा प्रजातन्त्रीय रूप अधिक अनुकूल है, कम-से-कम पश्चिमी सभ्यता की प्रवृत्तियों के लिए। क्योंकि, प्रजातन्त्र पद्धति में चाहे कितनी ही कमज़ोरियाँ हों, उसमें राज्य के विधि-निर्देशों का रूप-निर्माण

करते समय अधिक-से-अधिक माँगों पर विचार करना शक्य हो-जाता है। यह पद्धति क़ानूनी विधि-निदेशों के कार्यों की समा-लोचना को ही उनके जीवन का आधार बना देती है। यह उत्तर-दायित्व की भावना को विस्तृत करके स्वयं विचार और कार्य करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। यह नागरिक को निर्णय में भाग लेने की भावना ही नहीं, प्रत्युत, उसके तत्त्व पर प्रभाव डालने का अवसर भी प्रदान करती है। यदि यह मान भी लें कि अन्य पद्धति की अपेक्षा प्रजातन्त्रीय पद्धति, जैसा कि अनुभव से सूचित-सा होता है, अवश्य धीरे कार्य करेगी, क्योंकि, उसके सामने उपस्थित होनेवाली माँगें बहुत ही भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं; तो भी, अन्य कोई ऐसी पद्धति नहीं है जिसके पास राज्य के सिद्धान्तभूत उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए कोई सस्था-सम्बन्धी योजना हो।

परन्तु यह कहना कि राज्य-संस्था का स्वरूप प्रजातान्त्रिक होना चाहिए, उस स्वरूप को प्रकट करनेवाली संस्थाओं को ही निश्चित करना नहीं है: क्योंकि, मोटेतौर पर यह कहना ग़लत नहीं है कि प्रजातन्त्र प्रणाली अभी, किसी विशेष रूप में, अपने लिए उपयुक्त संस्थाओं को ढूँढ नहीं सकी है। यदि क़ानूनी विधि-निदेशों के समूह का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होता है कि तीन प्रकार की सत्ता की आवश्यकता है : जैसे (१) हमें ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो या यो समस्त नागरिक-समूह के लिए या समस्त नागरिक-समूह से स्पष्टतः भिन्न निश्चित स्वार्थ रखनेवाले नागरिक-समूह के किसी भाग के लिए लागू होनेवाले साधारण

नियम बनाता है। ऐसी संस्थाओं का स्वरूप व्यवस्थापनात्मक होता है। वे, या तो पार्लमेण्ट-सहित राजा की भांति, सर्वोपरि व्यवस्थापिका हो सकती हैं, या मेञ्चेस्टर नगर-शासन-सभा की भांति, अ-सर्वोपरि क़ानून बनानेवाली संस्था हो सकती है, जिनका अधिकार-क्षेत्र उनको सत्ता देनेवाले विधान द्वारा निश्चित रहता है। (२) हमें ऐसी सस्थाओं की आवश्यकता है, जिनका कर्तव्य है जिस व्यवस्थापिका के नीचे वे कार्य करती हैं, उनके निश्चित किये हुए नियमों के अपेक्षित लक्ष्यों को कार्यान्वित करना। ऐसी संस्थाओं की मुख्य विशेषता यह है कि वे सामान्यत. अपने अधिकार-क्षेत्र को स्वयं निश्चित नहीं करतीं। जिन सिद्धान्तों के अधीन वे रहती हैं वे उनके लिए उस व्यवस्थापिका द्वारा निश्चित किये जाते हैं जिसके प्रति वे सामान्यतः उत्तरदायी होती हैं। इस प्रकार की व्यवस्थापिका अधिकारों का जो क्षेत्र निश्चित कर देती है उसके अन्दर ही उनके कार्यों का स्वरूप सीमित रहता है। उनका कार्य राजनैतिक जीवन की रूप-रेखा का रूप-निर्माण करनेवाले क़ानूनी विधि-निर्देशों को कार्यान्वित करना है। (३) हमें ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो दो प्रकार के झगड़ों को निबटावें। नागरिक और कार्यकारिणी के बीच झगड़े होते हैं; उदाहरणतः, नागरिक यह दावा पेश करता है कि कार्यकारिणी का अमुक कार्य उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि कार्यकारिणी को ही अधिकार हो कि वह अपने अधिकार-क्षेत्र का स्वयं ही निर्णय करले, तो वह जिन क़ानूनी विधि-निर्देशों से जीवित

रहती है उनकी वास्तव में स्वामिनी हो जावे। ऐसे झगड़ों के निर्णय का अधिकार कार्यकारिणी से बाहर सौंपने से प्रामाणिकता की यथार्थता मालूम की जा सकती है। और, दूसरे प्रकार के झगड़े हैं नागरिकों के बीच के झगड़े। 'क' का दावा है कि 'ख' ने उसे हानि पहुँचाई। यहाँ यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि जिस व्यवहार की शिकायत 'क' करता है वह राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों द्वारा वास्तव में निषिद्ध है या नहीं; यदि वह इस प्रकार निषिद्ध है तो, क़ानून की दृष्टि से ही, किसी उपयुक्त दण्ड को भी निर्धारित करने की आवश्यकता है।

कम-से-कम अरस्तू के समय से तो, राजनीतिक तत्वज्ञान ने बराबर यह माना है कि प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य-संस्था में यह तीनों प्रकार की संस्थायें, अपने कर्तृत्व के विषय में भी और अपने अन्तर्गत व्यक्तियों के विषय में भी, एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् रहनी चाहिएं। मान्टेस्क्यू जैसे कुछ विचारक यहाँ तक आगे बढ़ गये हैं कि उनका दावा है कि इनके पृथक्करण में ही राजनैतिक स्वतन्त्रता का रहस्य है।

हम इतने कट्टर मत को स्वीकार नहीं कर सकते। पहले तो, शुद्ध सिद्धान्त के आधार पर न्याय-विचार सम्बन्धी कर्तृत्व, पूर्ण युक्तितः, व्यवस्थापिका का काम माना जा सकता है; क्योंकि जो व्यक्ति क़ानून को बनाता है उसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति उसके अर्थ को जाननेवाला नहीं माना जा सकता। इसके अलावा व्यवहार में भी कठोर पार्थक्य रखना असम्भव है। व्यवस्था-

पिकायें अपने कर्तव्य को तबतक उचित रीति से पूर्ण नहीं कर सकतीं जबतक उन्हें क़ानून के कार्यान्वित करने में हस्तक्षेप करने और यथावसर न्यायाधीशों के निर्णयों को, जो व्यापक रूप से असन्तोषजनक प्रतीत होते हों, विधान द्वारा बदलने की स्वतन्त्रता न हो। कार्यकारिणी को क़ानून का प्रयोग करते समय, सामान्य सिद्धान्तों को ब्योरे का जामा पहनाना पड़ता है; और आधुनिक राज्य-संस्था में इस कर्तृत्व का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसको व्यवस्थापिका के कार्य से पृथक् करना प्रायः कठिन होजाता है। अन्तिम बात यह है कि, न्याय-कारिणी जब कार्यकारिणी के अधिकार-क्षेत्र का निर्धारण करती है (इस दशा में वह व्यवस्थापिका की इच्छा के तत्व का निर्धारण करती है), या दो नागरिकों के बीच के झगड़े का निर्णय करती है (इस दशा में वह राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निर्देशों के कार्य का क्षेत्र बढ़ाती है, या यह बताती है कि उन विधि-निर्देशों ने जो कार्यक्षेत्र घेर लिया है वह उसकी सीमा से बाहर का है), तब वह ऐसा कर्तृत्व पूर्ण करती है जो स्वरूपतः व्यवस्थापनात्मक है। उदाहरणतः, इङ्गलैण्ड और अमेरिका में जो क़ानून न्यायाधीश-निर्मित कहलाता है, और ठीक ही कहलाता है, वह विधान के क़ानून से अधिक व्यापक क्षेत्र घेरे हुए हैं; और अमेरिका में इस कारण कि वहाँ व्यवस्थापिकायें स्वरूपतः असर्वोपरि हैं, क्योंकि उनकी सत्ता लिखित शासन-विधानों से जिनको वे नहीं बदल सकतीं, उत्पन्न होती है, उन शासन-विधानों का अर्थ-निर्णय करनेवाले न्यायाधीशों के हाथ में व्यवस्थापिका से भी

अधिक शक्ति है (उदाहरणतः उन मामलों में जहाँ किसी विधान पर या किसी कार्य कारिणी की सत्ता पर शङ्का हो) कारण कि न्यायकारिणी इच्छा ही व्यवस्थपिका के अधिकार की सीमाओं को निर्धारित करनेवाला मुख्य अवयव है।

प्रत्येक संस्था का पृथक्-पृथक् विश्लेषण प्रारम्भ करने से पहले सामान्य प्रकार के दो और सिद्धान्तों पर विवेचन करना आवश्यक है। प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य-संस्था के पास ऐसा शासन-विधान होता है जो उसके क़ानूनी विधि-निदेशों के बनाने के मूल तरीक़े को निश्चित करता है। इस प्रकार के शासन-विधान दो तरह से विभक्त किये जा सकते हैं। वे लिखित या अलिखित हो सकते हैं; और, वे कठिनतया-परिवर्तनीय या सुगमतया-परिवर्तनीय हो सकते हैं। उदाहरणतः संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) का शासन-विधान एक ऐसा पत्रक है जो व्यवस्थापिका कार्यकारिणी और न्यायकारिणी के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है; और इनमें से कोई भी जबतक यह सिद्ध न कर दे कि जो शक्ति वह ग्रहण करना चाहती है वह उस पत्रक की धाराओं से उत्पन्न होती है, तबतक कार्य करने का अधिकार नहीं रखती। दूसरी ओर, ब्रिटेन का शासन-विधान अनेकों विधानों, न्यायकारिणी के निर्णयों, और अलिखित प्रथाओं का बना हुआ समूह है; जिनका पारस्परिक सम्बन्ध नियमतः इस बात से निर्धारित होता है कि पार्लमेण्ट-सहित राजा के हाथ में उनमें यथोचित परिवर्तन करने की शक्ति है; पारिभाषिक शब्दों में कह सकते हैं कि

साधारण क़ानून और शासन-विधान सम्बन्धी क़ानून दोनों समान श्रेणी के हैं। उदाहरणतः संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) की काँग्रेस को राष्ट्रपति के कर्तृत्वों में परिवर्तन करने की शक्ति नहीं है; परन्तु पार्लमेण्ट-सहित राजा जब उचित समझे ब्रिटेन की कार्यकारिणी की शक्ति को परिवर्तित कर सकता है।

आधुनिक संसार में लिखित शासन-विधान ही अधिकाधिक नियमरूप होते जाते हैं; यह अनुभव किया जाता है कि राज्य-संस्था में शक्ति का विभाजन इतना महत्वपूर्ण मामला है कि जिस के विषय में बहुत ही निश्चितता की आवश्यकता है, जो लिखित शासन-विधान ही प्रदान करता है। सब मिलाकर विचार करें तो अनुभव यह बताता है कि इस दृष्टिकोण में वस्तुतः तथ्य है; क्योंकि शासन-विधान सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त इतने महत्वपूर्ण हैं कि उनपर जितना ज़ोर दिया जाय कम है। दूसरी ओर यह बिलकुल अवांछनीय बात है कि शासन-विधान का स्वरूप कठिनतया-परिवर्तनीय हो। समाज की आवश्यकतायें बदलती रहती हैं, और उसके लिए जो रूपरचना आवश्यक होती है वह भी आवश्यकताओं के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हुआ करती है। उदाहरणार्थ, अमेरिका के शासन-विधान की दृढ़ता कुप्रसिद्ध है, वह तभी बदल सकता है जब काँग्रेस की दोनों खण्ड-सभाओं में से प्रत्येक की दो-तृतीयांश सम्मति हो, और उसपर अमेरिकन संघान्तर्गत तीन-चतुर्थांश राज्य सात वर्ष के समय के अन्दर स्वीकृति दें। अनुभव ने प्रकट किया है कि कार्यपद्धति संशोधित

करने की शक्ति को इतना दुष्कर बना देने का परिणाम यह है कि, जब कोई आवश्यक परिवर्तन स्पष्टतः वांछनीय होजाते हैं तब वे नहीं किये जा सकते। उदाहरणतः, संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) में शक्ति के प्रारम्भिक विभाजन के कारण मजदूरों-सम्बन्धी और दाम्पत्य-सम्बन्धी क़ानूनों में एकरूपता लाना प्रायः असम्भव हो जाता है, जो आजकल की दुनिया में आवश्यक है। अमेरिकन-संघ के पिछड़े हुए राज्यों में प्रतिगामी कारखानेदार लोग अनुचित रूप से लाभ में रहते हैं; और शासन-विधान की "पूर्ण ईमानदारी और साख" वाली धारा के कारण व्यावहारिक रूप से धनिकों को तो तलाक़ की सुविधायें मिल जाती हैं परन्तु निर्धनों को नहीं मिल पातीं। अनुभव से यह सिद्ध होता है कि शासन-विधान लिखित होना, वांछनीय है, जो स्पष्ट और सीधे क्रम से संशोधित किया जा सके। सब बातों पर विचार करते हुए सम्भवतः सर्व-श्रेष्ठ उपाय यही हो सकता है कि व्यवस्थापिका ही शासन-विधान में संशोधन करे, परन्तु शर्त यह रक्खी जानी चाहिए कि किसी प्रस्तावित परिवर्तन के लिए काफ़ी ऊँचे अनुपात में सदस्यों का समर्थन मिले।

कभी-कभी कहा जाता है कि प्रजातान्त्रिक पद्धति में शासन-विधान में मौलिक प्रस्ताव उपस्थित कर सकने, तथा समुपस्थित प्रस्ताव पर सार्वजनिक-सम्मति-निर्धारण करने की विधियाँ समा-विष्ट रहनी आवश्यक हैं। इस पक्ष के समर्थक कहते हैं कि यदि क़ानूनी विधि-निदेशों के निर्माण के कार्य में किसी जनता का भाग

केवल इसी हद तक परिमित हो कि वह उन विधि-निदेशों के तत्व के लिए उत्तरदायी मनुष्यों को चुन दे तब तो वह अपने जीवन पर वास्तव में नियन्त्रण नहीं रखती। मौलिक प्रस्ताव उपस्थित कर सकने की रीति से सर्वसाधारण की इच्छा निश्चित रूप ग्रहण कर सकती है, और समुपस्थित प्रस्ताव पर सार्वजनिक-सम्मति-निर्धारण करने की रीति से जनता अपने प्रतिनिधियों के उन कार्यों को रोक सकती है जिनके साथ वह सहमत नहीं है। इस पक्ष के लोगों का दावा है कि प्रतिनिधि-स्वरूपात्मक पद्धति के साथ प्रत्यक्ष शासन अवश्य होना चाहिए; अन्यथा जैसा कि अंग्रेज़ जनता के विषय में रूसो ने कहा था, वह केवल चुनाव के समय में ही स्वतन्त्रता होती है।

परन्तु कहा जा सकता है कि इस मत में जिन समस्याओं पर निर्णय करना है उनके स्वरूप, तथा जिस स्थान पर सार्वजनिक सम्मति का अधिक-से-अधिक मूल्यवान परिणाम हो सकता है, इन दोनों बातों को ग़लत समझा गया है। समस्त आधुनिक राज्य-संस्थाओं में निर्वाचक-मण्डल आवश्यक-रूप से इतना बड़ा होता है, कि जनसाधारण, समष्टिरूप से, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते कि प्रत्यक्ष शासन उनके सामने जिन प्रश्नों को उपस्थित करे उन पर वह 'हाँ' या 'ना' के रूप में प्रत्यक्ष उत्तर दे दें। परन्तु क़ानून बनाने का कार्य जितना सिद्धान्त-सम्बन्धी है, ब्योरा-सम्बन्धी भी उससे कम नहीं है; और कोई भी निर्वाचक-मण्डल अपने सामने विचारार्थ उपस्थित किये हुए मामलों के ब्योरे में नहीं जा

सकता। वास्तव में, प्रत्यक्ष शासन आधुनिक शासन के प्रयोजन के लिए अत्यन्त भद्दा साधन है। वह, जिस स्थान पर वाद-विवाद आवश्यक है उस स्थान पर उसको उपयोगी नहीं बना सकता; और वह संशोधन के क्रम के लिए अवकाश नहीं देता। यह सत्य है कि, बिजली देने का काम राष्ट्रीय होना चाहिए या व्यक्तिगत इस प्रकार के सिद्धान्त-सम्बन्धी विशेष मोटे प्रश्नों को तो सार्वजनिक सम्मति के लिए छोड़ा जा सकता है, परन्तु अन्य सब प्रश्न इतने नाजुक और जटिल होते हैं कि निर्वाचक-मण्डल में, अ-विशिष्ट निर्वाचक-मण्डल के रूप से, न तो इतनी रुचि होती है और न इतना ज्ञान कि वह उपयुक्त निर्णय कर सके।

इतना ही नहीं। केवल यही नहीं कि अधिकांश प्रश्न इस रूप में बनाए जा सकते कि जिससे प्रत्यक्ष शासन उपयोगी हो सके; परन्तु इस पद्धति के अवान्तर परिणाम भी असन्तोपजनक होते हैं। उदाहरणतः यह प्रतिनिधि-सभा की पद्धति के अविरुद्ध नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार कार्यों का मुख्य उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका के बाहर रहता है। उत्तरदायित्व के इस प्रकार के विभाजन से प्रयत्न की सु-सम्बद्धता नष्ट होजाती है, जिसके द्वारा सर्वसाधारण अपने प्रतिनिधियों के काम का उचित रीति से निर्णय कर सकती है। और, इस पद्धति में यह बात मानी गई है कि लोकमत क़ानून बनाने के क्रम के विषय में भी और उसके परिणामों के विषय में भी विद्यमान है। परन्तु शासन की वास्तविक समस्या यह नहीं है कि जिन कार्यों के विषय में निर्वाचक-मण्डल

को घनिष्ट ज्ञान होना सम्भव न हो, उनपर भी निर्वाचक-मण्डल का अ-विशिष्ट और अरुचिपूर्ण मत बलपूर्वक लिया जावे। बल्कि शासन की समस्या तो यह है कि लोकमत का वह भाग जो क़ानूनी विधि-निदेश बनाने से पहले उसके तत्व से सम्बद्ध है और जो उसके विषय में योग्यता रखता है क़ानून-निर्माण-क्रम से संयोजित कर दिया जाय। इसके लिए प्रत्यक्ष शासन आवश्यक नहीं है, बल्कि आवश्यक यह है कि किसी तरीक़े से समाज के सम्बद्ध स्वार्थ-घटकों को, जिन क़ानूनों से उनके जीवनों पर कुछ प्रभाव पड़ेगा, उनके निर्माण-क्रम से सम्बन्धित कर दिया जाय। उदाहरणतः स्वास्थ्य-बीमा सम्बन्धी किसी राष्ट्रीय योजना पर, यदि व्यवस्थापिका सभा में बहस होने से पहले डाक्टरों, मज़दूर-सङ्घों और इसी प्रकार की संस्थाओं को अपने विचार प्रकट करने का पूरा अवकाश देकर उनसे विचार-विमर्श करने की पद्धति न रखी जाय और सार्वजनिक-सम्मति ली जाय तो उसकी अपेक्षा इसके परिणाम बहुत कम मूल्यवान् होंगे। संक्षेपतः, शासन के प्रयोजन के लिए परिणामकारी सम्मति प्रायः सदा जन-समुदाय की सम्मति से भिन्न विशेष ज्ञान रखनेवाली संगठित और विशिष्ट सम्मति होती है। सार्वजनिक-सम्मति स्वरूपतः प्रायः निषेधार्थक के सिवाय अन्य परिणाम नहीं दे सकती; और अनुभव की शिक्षा यही प्रतीत होती है, जैसा कि विशेषतः स्विट्ज़रलैण्ड का इतिहास बताता है कि वह परम्परा-गत प्रवृत्तियों में इतनी जकड़ी हुई रहती है कि जब वह एक बाहरी संरक्षित शक्ति होती है, तब उसके

कारण कोई भी सामाजिक प्रयोग करना कठिन होता है।

२

यदि राज्य-संस्था की व्यवस्थापिका अपने अङ्गों से अपनी सत्ता बलपूर्वक मनवाना चाहती है तो उसे आधुनिक परिस्थितियों में सार्वजनिक मताधिकार पर आधारित होना चाहिए। वह इतनी बड़ी होनी चाहिए कि उसके सदस्य निर्वाचक-मण्डल के साथ काफ़ी दृढ़ सम्पर्क में रह सकें, और इतनी छोटी होनी चाहिए कि समुचित वाद-विवाद किया जा सके। उदाहरणतः, रूस की सोवि-एट सरकार की कांग्रेस के समान किसी बड़ी परिषद् में वाद-विवाद में समस्त व्यक्तित्व डूब जाता है, और परिषद् सबसे अधिक प्रभाव रखनेवाले दल की इच्छा को क़ानून का रूप दे देनेवाला साधन-मात्र बन जाती है। उसे, एक निर्धारित काल के बाद, जिसे वह सामान्य परिस्थितियों में स्वयं नहीं बदल सकती, अपना दुबारा निर्वाचन स्वयं करवाना चाहिए। यह काल इतना लम्बा होना चाहिए कि दो परिणाम प्राप्त होसकें, एक तो यह कि व्यवस्थापिका अपने आपको काफ़ी विस्तृत कार्यक्रम के लिए उत्तरदायी बना सके, और दूसरा यह कि उसके सदस्यों को इतना काफ़ी समय मिल सके कि वे उसकी कार्यपद्धति से अपने आपको पूर्ण परिचित कर सकें। परन्तु यह काल इतना अल्प भी होना चाहिए कि व्य-वस्थापिका का अपने अवयवों से सम्पर्क छूट न जाय। इंग्लैण्ड में १६११ से पहले दो निर्वाचनों के बीच में सात वर्ष के काल की जो प्रणाली प्रचलित थी, वह बहुत लम्बी थी, क्योंकि उसके कारण

व्यवस्थापिका को इतना दीर्घ जीवन मिल जाता था कि जिससे उसपर लोकमत के प्रवाह का प्रभाव नहीं पड़ता था। दूसरी ओर, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की प्रतिनिधि-परिषद् का दो वर्ष का काल भी बहुत छोटा है, क्योंकि ज्योंही कोई सदस्य निर्वाचित होजाता है त्योंही उसके दूसरे चुनाव का विचार उसके मस्तिष्क को घेरने लगता है, और वह इतने थोड़े समय में परिषद् के क़ानून बनाने के तरीक़ों को सीखने की आशा भी नहीं कर सकता। सब बातों को ध्यान में रखते हुए पाँच वर्ष का काल इन आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है।

सामान्यतः व्यवस्थापिका परिषद् का सदस्य किसी-न-किसी दल के समर्थक के रूप में निर्वाचित होगा। आधुनिक राज्य-संस्था में निर्वाचक-मण्डल इतना बड़ा होता है और स्वार्थों की संख्या इतनी भिन्न-भिन्न होती है कि निर्णयों पर पहुँचने के लिए उनको संगठित करना आवश्यक है। इस कर्तृत्व को, राज्य-संस्था में राजनैतिक दल पूर्ण करते हैं; वे विचारों के दलाल हैं। वे ऐसे सिद्धान्तों को चुन लेते हैं, जो उनके विचारानुसार पूर्ण सम्भवतया निर्वाचक-मण्डल को स्वीकृत होंगे, और उन सिद्धान्तों पर आरूढ़ होजाते हैं और यथाशक्य उनको क़ानून के रूप में परिवर्तित करने की प्रतिज्ञा करते हैं। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि प्रतिनिधि-स्वरूपात्मक शासन के लिए दल-पद्धति आवश्यक आधार है। दल-पद्धति के बिना हम न तो क़ानूनों का सुसम्बद्ध कार्यक्रम प्राप्त कर सकेंगे, और न उनके लिए व्यवस्थापिका परिषद् में क़ानून बन सकने

योग्य आवश्यक मात्रा में सङ्गठित समर्थन ही पा सकेंगे। उन दलों में चाहे कितने ही दोष हों वे कार्यसाधनार्थक नागरिक-माँगों के कारण उत्पन्न होनेवाली जीवन-व्यवहार की एक रीति के व्यक्तरूप हैं।

दलों का विभाजन, वास्तव में, राज्य-संस्था के सदस्यों में जिस प्रकार मत विभाजित रहता है, ठीक उसीके अनुरूप नहीं होता। इस अनुरूप विभाजन के अभाव के कारण दो सिद्धान्त प्रायः स्थापित किये जाते हैं; जोकि अपने दावों में दोनों ही असन्तोष-जनक हैं। जहाँ किसी राज्य-संस्था के जीवन पर किसी दल-शासन का प्रभुत्व होता है, वहाँ मत को विभाजित करने की रीति स्पष्टतया अत्यन्त कृत्रिम है। उदाहरणतः, इंग्लैण्ड में यदि अनुदार और मज़दूर दो ही दल हों तो अनेक नागरिकों को दोनों में से एक को चुनना पड़ेगा, चाहे दोनों के साथ उनकी पूर्ण और सजीव सहानुभूति न हो। इसलिए कोई-कोई यह सूचित करते हैं कि बहु-दल-पद्धति जो बहुधा समुदाय-पद्धति कहलाती है लोकमत के विभाजन से अधिक अनुरूपता रखती है।

परन्तु जैसा कि फ्रांस और जर्मनी में हुआ, समुदाय-पद्धति के अनुभव से यह प्रतीत होता है कि उसके साथ दो भयङ्कर दोष हैं। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि जहाँ यह पद्धति कार्य करती है वहाँ व्यवस्थापिका को नियन्त्रण में रखने के लिए समुदायों का ऐसा मेल बनाना पड़ता है जिससे व्यवस्थापिका पर प्रभुत्व डालने योग्य बहुमत बन जाय। इसका परिणाम यह होता है कि कपट-चातुर्य उत्तरदायित्व का स्थान ग्रहण कर लेता है और नीति में जो

सुसम्बद्धता और व्यापकता होनी चाहिए, जिससे नीति ठीक-ठीक जाँची जा सके, वह उसमें नहीं रह पाती। दूसरा दोष जो प्रधानतया फ्रांस में देखा जाता है, यह है कि समुदाय-पद्धति शक्ति को सिद्धान्तों पर नहीं बल्कि व्यक्तियों के हाथ में इकट्ठा कर देती है। उदाहरणतः फ्रांस में सामान्य मत-दाता राज-तंत्रवादी और साम्यवादी के अन्तर को समझ सकता है, परन्तु इन दोनों प्रकारों के बीच में ऐसे प्रकार के लोग बहुत संख्या में हैं जिनका सूक्ष्म भेद ठीक-ठीक शब्दों में कहना कठिन है। परिणाम यह होता है कि, जहाँ एक ओर ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) में मत-दाता जिस प्रकार के परिणाम को चाहता है उसको स्पष्टतया जानता है, और यह मान सकता है कि यदि उसके दल की जीत होगी तो उस परिणाम के अनुसार क़ानून बनेंगे, वहाँ दूसरी ओर, फ्रांस में जबतक शासनाधिकार नरम और गरम दलों के उग्र लोगों के हाथ में नहीं होता तबतक निर्वाचक-मण्डल की व्यक्त इच्छा और जिस प्रकार के शासन के नीचे उसे रहना पड़ेगा इन दोनों के बीच में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त, एक यह भी दोष है कि व्यवस्थापिका परिषद् में सरकार की हार सिद्धान्त के मतभेद पर उतनी निर्भर नहीं रहती जितनी कि भिन्न-भिन्न समुदायों के शासनाधिकार से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अपने विशेष-विशेष प्रकार के मेल बनाने के झगड़ों पर रहती है।

दूसरी ओर, विभाजन की अनुरूपता के इस अभाव के कारण कुछ लोगों का आग्रह यह है कि व्यवस्थापिका परिषद् में सदस्यों

की संख्या आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए। वे कहते हैं कि व्यवस्थापिका परिषद् में भिन्न-भिन्न दलों का बल उतना-उतना ही होना चाहिए जितना-जितना समर्थन उन्हें निर्वाचक-मण्डल से मिला है; यदि किसी अन्य प्रकार से चुनाव किया जायगा तो निर्वाचकों की प्रकट इच्छा के विरुद्ध होगा, और परिणाम-स्वरूप जो क़ानून बनेंगे वह लोकमत के निषेध-स्वरूप होंगे। ग्रेट-ब्रिटेन में जिस प्रकार की पद्धति है वह तो राज्य-संस्था के प्रदेश को मोटे तौर पर बराबर-बराबर अनेक निर्वाचक-अवयवों में विभक्त कर देती है, और जिस उम्मेदवार को सबसे अधिक मत मिले हों उसको व्यवस्थापिका का स्थान प्रदान करती है। इस पद्धति का दुष्परिणाम यह हो सकता है कि किसी दल को सारे देश में कुल जितना समर्थन मिले, उसकी अपेक्षा उसे बहुत अधिक स्थान मिल जाँय, और इसके अतिरिक्त यह भी हानि हो सकती है कि लोक-मत की कई बड़ी-बड़ी श्रेणियाँ प्रतिनिधित्व से अपने बल की अपेक्षा बिलकुल वञ्चित रह जाँय। उदाहरणतः सन् १९२४ के सार्वजनिक निर्वाचन में हाउस आव् कामन्स में अनुदार दल का बड़ा बहुमत था, परन्तु समस्त मतों की अपेक्षा वह काफ़ी अल्प-मत में था; परन्तु जिस उदार दल ने अपने पक्ष में लाखों मत प्राप्त किये थे, उसको अपने समस्त वास्तविक समर्थकों की संख्या की अपेक्षा केवल परिहास-जनक अल्प अनुपात में थोड़े से स्थान मिले थे।

स्पष्टतः, इस समालोचना में वास्तविक तथ्य है। परन्तु हमें आनुपातिक प्रतिनिधित्व के केवल सैद्धान्तिक गुणों पर ही विचार नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसके वास्तविक कार्य पर भी विचार करना चाहिए। जहाँ-जहाँ यह काम में आ रहा है वहाँ-वहाँ इसके दो मुख्य परिणाम हुए हैं : जैसे (१) इससे सदा दल-तन्त्रों की शक्ति बढ़ती है; (२) यह व्यवस्थापिका परिषद् में दलों के बल को इस प्रकार समतोलित कर देता है कि प्रायः अल्पमत-पक्ष की सरकार बन जाती है, जिसके कारण सुसम्बद्ध क़ानून-निर्माण असम्भव होजाता है, अथवा सम्मिलित सरकार बनानी पड़ती है, जिसके कार्यों में समुदाय-पद्धति की सारी बुराइयाँ रहती हैं। इसके अतिरिक्त वास्तविक व्यवहार में एक-सदस्य पद्धति के कारण कोई भी सरकार अनुचित रूप से अपना बहुमत (जिसका सम्मान न करना कठिन है) बनाकर जो कार्य कर सकती है, उसमें मर्यादा का बन्धन लग जाता है। उदाहरणतः १९२४ में इङ्गलैण्ड में अनुदार सरकार के पास इतनी शक्ति थी कि यदि वह चाहती तो हाउस आव् लार्ड्स का सुधार कर सकती थी, तथा संरक्षणात्मक कर लगा सकती थी, और इन दोनों कार्यों को उसके समर्थक हृदय से चाहते थे। परन्तु वास्तव में वह दोनों कार्य न कर सकी, क्योंकि उसका बहुमत जिस प्रकार का था उसके कारण उसमें इन कार्यों को करने के लिए यथेष्ट नैतिक बल नहीं था, और उसे आगामी सार्वजनिक निर्वाचन में इस प्रयत्न के परिणाम का भी भय था। इसके अतिरिक्त किसी एक प्रकार के मत की शक्ति केवल सार्व-

जनिक निर्वाचन में मत-संख्या पा सकने की योग्यता से ही नहीं नापी जा सकती। क़ानूनी-निर्माण के वास्तविक क्रम में उसकी सत्ता का निर्माण करनेवाले अवयव, जितने वर्तमान पद्धति के समालोचक मानने को तैयार हैं उनकी अपेक्षा अधिक बहुसंख्यक भी और अधिक सूक्ष्म भी हैं। यह कहना उचित भी होगा कि जो सरकार अपनी वास्तविक सत्ता की अभीष्ट सीमाओं से आगे बढ़ जायगी, अर्थात् अपने बहुमत का अनुचित रूप से प्रयोग करेगी, उसे निश्चय ही न केवल आगामी सार्वजनिक निर्वाचन में दण्ड भुगतना पड़ेगा, प्रत्युत, उसके स्थान पर जो नई सरकार आयगी वह उसके बनाये क़ानूनों को भी संशोधित कर देगी।

यदि व्यवस्थापिका परिषद् की सदस्यता के अधिकार पर कोई बन्धन लगाये जायँ तो वह ऐसे होने चाहिएँ जो समस्त नागरिक-समूह पर समानता से लागू हों, और सामान्यतः जहाँतक हो सके कम होने चाहिएँ। परन्तु योग्यता के जो लक्षण साधारणतया लगाये जाते हैं उनसे अधिक कठिन लक्षणों की माँग करना हमारे लिये असङ्गत न होगा। आजकल यदि आयु-सम्बन्धी लक्षण पूरा होजाता है तो व्यावहारिक रूप से किसी अन्य गुण की आवश्यकता नहीं होती। व्यवहार में इसका परिणाम यह होता है कि जिनके पास सम्पत्ति या (उच्च-कुल का) जन्म होता है या ग्रेट-ब्रिटेन-खनिक-सङ्घ के समान किसी शक्तिशाली स्वेच्छा-निर्मित सङ्घ से सम्बन्ध होता है, या क़ानून जैसा कोई पेशा होता है जो व्यवस्थापिका परिषद् की सदस्यता के विशेष अनुकूल पड़ता है, उन्हें ऐसा विशेष

अवसर मिल जाता है जो अन्य नागरिकों को प्राप्त नहीं होता। मेरे विचारानुसार यह कहना युक्तियुक्त ही होगा कि जो व्यक्ति व्यवस्थापिका परिषद् की सदस्यता चाहे उसे सिद्ध करना चाहिए कि व्यवस्थापिका परिषद् जिस प्रकार का कार्य करती है उसके विषय में उसे अनुभव है। उदाहरणतः, यदि हम यह माँग करें कि निर्वाचन से पहले प्रत्येक उम्मेदवार के लिए म्युनिसिपल कौंसिल या ऐसी ही किसी संस्था में निश्चित वर्षों तक काम कर चुकना आवश्यक है, तो असम्भव नहीं कि सदस्य अधिक उत्तम कोटि के प्राप्त होसकें। यह भी आवश्यक है कि सदस्यों को वेतन मिलना चाहिए। अन्यथा निर्धन मनुष्य तो चुने जाने की आशा ही नहीं कर सकते; और धनिकों के सिवाय कोई भी व्यक्ति व्यवस्था-पन-संबन्धी कार्य के लिए पूरा समय न दे सकेगा।

व्यवस्थापिका परिषद् सामान्यतः एक-खण्डात्मक होनी चाहिए। परीक्षण से ज्ञात होगा कि जहाँ किसी एक घटनात्मक राज्य-संस्था में द्वि-खण्डात्मक पद्धति विद्यमान है, वहाँ उसकी प्रवृत्ति, इङ्गलैण्ड के हाउस आव् लार्ड्स की भाँति, राज्य के किसी विशेष स्वार्थ के हितसाधन की ओर होती है। वास्तव में सिद्धान्त-दृष्टया, दूसरे खण्ड के पक्ष में युक्तियाँ दिखाई ही नहीं देतीं; जैसा कि बेन्हम ने कहा था, यदि दूसरे खण्ड की सम्मति प्रथम खण्ड के अनुसार है तो वह अनावश्यक है, यदि उसकी सम्मति विरुद्ध है तो वह अनिष्ट-कारी है। विशेष स्वार्थों के प्रभुत्व की बात को दूर रखते हुए, दूसरे खण्ड के पक्ष में सामान्यतः दो

युक्तियाँ दी जाती हैं। कहा जाता है कि उसकी आवश्यकता प्रथम खण्ड के जल्दबाज़ी में और पूर्णरीति से विचार न किये हुए क़ानूनों का बनाना रोकने के लिए है; और यह भी आवश्यक है कि एक ऐसी संस्था हो जो सरकार के प्रस्तावित क़ानूनों पर विशेषज्ञता-पूर्ण आवश्यक पुनर्विचार कर सके। पर, इन युक्तियों में तो दूसरे खण्ड (क) की रचना और (ख) उसके कर्तृत्व तथा अधिकार-क्षेत्र के प्रश्न उत्पन्न होते हैं। प्रसङ्गवश यह भी कहा जा सकता है कि बहु-घटनात्मक (सङ्घीय) राज्य-संस्था में भी, द्वि-खण्डात्मक पद्धति का परिणाम यही हुआ है कि दोनों खण्डों में से एक खण्ड, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की सीनेट की भाँति, आवश्यक-रूपेण प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है।

हम पहले रचना पर विचार करेंगे। हाउस आव् लार्ड्स, या केनेडा की सीनेट की भाँति, विशुद्ध नामजद किये हुए दूसरे खण्ड को, कम-से-कम प्रजातन्त्रीय राज्य-संस्था में तो, इतनी शक्ति नहीं हो सकती कि वह निर्वाचित परिषद् की इच्छा का विरोध करे; और उसकी सदस्यता, जबकि उसमें कोई स्थान रिक्त होंगे, उन लोगों की इच्छा पर निर्भर होगी जिनके हाथ में उस समय नामजद करने का अधिकार होगा। निर्वाचित द्वितीय खण्ड की भी स्थिति इससे कुछ अच्छी न होगी। यदि उसका निर्वाचन प्रथम खण्ड के निर्वाचन के ही समय और उसके ही समान मताधिकार पर होगा, तो वह केवल उसकी रचना का ही प्रतिबिम्ब होगा; यदि भिन्न समय और विशेषतः यदि भिन्न मताधिकार पर होगा, तो उससे सम्भ-

वतः उस समय की सरकार के कार्यों में विघ्न पड़ेगा, और जैसा कि फ्रांस की सीनेट में होता है, वह मताधिकार जितना अधिक परिमित होगा, उस परिमित मताधिकार से महत्व पानेवाले स्वार्थों को उतना ही अधिक संरक्षण प्रदान करेगा। कोई-कोई कहते हैं कि प्रादेशिक आधार पर नामज़दगी या निर्वाचन दोनों बातें सन्तोषजनक नहीं हैं, और दूसरा खण्ड विशेष पेशेवालों के स्वार्थों के आधार पर बनना चाहिए। परन्तु विशेष पेशेवालों के स्वार्थों को उचित अनुपात में महत्व देने की कोई रीति अभीतक मालूम नहीं हुई है; और उदाहरणतः, यदि इञ्जीनियरिंग पेशेवाले लोग इस प्रकार की संस्था में अपना एक सदस्य भेजें तो उसकी इञ्जीनियरिंग सम्बन्धी सम्मतियों का इस संस्था को अधिकांश जिस प्रकार के निर्णय करने पड़ते हैं उनसे कुछ भी सम्बन्ध न होगा। संक्षेपतः, सुसम्बद्धता प्राप्त करने के लिए पेशेवाले द्वितीय खण्ड को दल की भित्ति पर अपने सदस्य चुनने पड़ेंगे और इस से तो पेशेवालों के प्रतिनिधित्व से जो प्रयोजन सिद्ध होना अभीष्ट था वही नष्ट हो जायगा।

कर्तृत्व और अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी समस्यायें भी सरल नहीं हैं। यह तर्क गंभीर नहीं माना जा सकता कि एक देर लगाने की शक्ति रखनेवाला खण्ड भी होना चाहिए। क्योंकि प्रथमतः तो कोई भी सरकार बड़े परिमाण में क़ानून बनाने का प्रयत्न तबतक नहीं करती जबतक कि उसके तत्व पर ख़ूब बहस न होगई हो, और दूसरी बात यह है कि यदि देरी काफ़ी होती है तो प्रारंभिक

खण्ड का कार्य अधिकांश व्यर्थ चला जाता है। जिसको स्मरण होगा कि ग्रेट-ब्रिटेन में मताधिकार संबन्धी सुधार, आयर्लैण्ड के स्वशासन, या राष्ट्रीय शिक्षा जैसे बड़े-बड़े क़ानूनों के बनाने में कितनी देर लगी है, उसे तो क़ानून-निर्माण में देर लगाने की अपेक्षा जल्दी करनेवाली किसी पद्धति की माँग करने का ही प्रलोभन होगा। इस मत में कोई तत्व नहीं है कि विशेषज्ञतापूर्वक पुनर्विचार का कार्य करने के लिए एक द्वितीय खण्ड की आवश्यकता है। यह कार्य, स्वरूपतः, मसौदा तैयार करने का कार्य है, जिसके लिए एक खण्ड की नहीं प्रत्युत इस कला के थोड़े से विशेषज्ञों की सेवा की आवश्यकता है। अधिकार-क्षेत्र की समस्या पर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि द्वितीय खण्ड को पहले खण्ड की सत्ता तबतक नहीं मिल सकती जबतक उसका निर्वाचन भी प्रथम खण्ड के ही समान न हुआ हो;और यदि उसे कम सत्ता दी जाय तो तुरन्त, एक तो रचना की समस्या उत्पन्न होगी, जिस का कि सन्तोषजनक हल होना, मैं पहले बता ही चुका हूँ, कठिन है, और दूसरी समस्या उत्पन्न होगी प्रथम खण्ड के अपनी इच्छा-शक्ति को प्रधान बनाने के अधिकार की।

बहुघटकात्मक (सङ्घीय) राज्य-संस्था में द्वितीय खण्ड की स्थिति के विषय में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। द्वितीय खण्ड का होना दो कारणों से आवश्यक माना जाता है। (१) सङ्घ के अङ्गभूत घटकों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, और (२) शासन-विधान द्वारा किये हुए अधिकारों के विभाजन को

आक्रमण से बचाना चाहिए। परन्तु प्रथम युक्ति निश्चय ही अनावश्यक है, क्योंकि अङ्गभूत घटक अपनी-अपनी सरकारों द्वारा, शासन-विधान द्वारा सिपुर्द किये हुए मामलों में, पहले ही नियन्त्रण रखते हैं; और अधिकारों के विभाजन की आवश्यक रक्षा तो दूसरे खण्ड के बिना भी ऐसा नियम बनाने से हो सकती है कि समस्त घटकों की, जिनका अधिकार-क्षेत्र बदलना हो, बड़े अनुपात में स्वीकृति होने पर ही शासन-विधान का संशोधन हो सके। अमेरिका की सीनेट के जो इस प्रकार की एक श्रेष्ठ संस्था है, अनुभव पर से मेरे विचारानुसार गम्भीरता-पूर्वक यह नहीं कहा जासका कि उसके कारण अति-केन्द्रीकरण से कुछ महत्वपूर्ण संरक्षण मिला हो; और आस्ट्रेलिया का अनुभव इस पद्धति में यह ख़तरा बताता है कि यह जहाँ वास्तव में समानता नहीं है वहाँ कृत्रिम समानता पर बल देकर उचित समय पर उचित परिवर्तन करना रोकती है।

मैं यहाँ व्यवस्थापन-संबन्धी संगठन के ब्योरे में नहीं जा सकता। मैं केवल कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तों को ही बता सकता हूँ जो अनुभव से निश्चित रूप से स्थिर हुए प्रतीत होते हैं। ब्रिटेन की प्रसिद्ध पद्धति, जिसमें कि राजनैतिक कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका परिषद् की सबसे प्रभावशाली दल की समिति के रूप में, व्यवस्थापिका का समवायी भाग है और उसके कार्य को सञ्चालित करता है, अमेरिकन पद्धति (जो इतिहास का आकस्मिक परिणाम है) से श्रेष्ठ है, जहाँकि व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी पृथक्-

पृथक् हैं। ऐसे सम्मिश्रण से सुसम्बद्ध योजना बनाना ही नहीं, परन्तु स्पष्ट उत्तरदायित्व लेना भी सम्भव होजाता है; और इसके कारण व्यवस्थापिका कार्यकारी उत्तरदायित्व के स्थानों के लिए योग्य मनुष्य चुनने का मुख्य साधन बनाई जा सकती है, जोकि उचित भी है। दूसरी बात यह है कि व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य में, सिद्धान्त की बहस और ब्योरे की बहस के बीच भेद करना आवश्यक है। सिद्धान्त पर बहस करना समष्टिरूप से व्यवस्थापिका का काम है; ब्योरे पर बहस करने का काम उसके सदस्यों की छोटी-छोटी कमेटियों के सिपुर्द करना ही सबसे अच्छा है, पर यह ब्रिटेन के हाउस आव् कामन्स के ढङ्ग से नहीं, परन्तु इङ्गलैण्ड की लन्दन काउण्टी कौंसिल जैसी गौण परिषदों द्वारा विकसित किये हुए ढङ्ग से होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह भी है कि व्यवस्थापिका परिषद् और शासन-सञ्चालन-क्रम के बीच घनिष्ट सम्बन्ध हो। इसके लिए राज्य-संस्था के प्रत्येक विभाग के साथ-साथ व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्यों की एक-एक परामर्श-दायिनी समिति होनी चाहिए, जिसको यह अधिकार हो कि उससे व्यवस्थापन-संबन्धी योजनाओं में सलाह ली जावे, वह सिपुर्द किये हुए व्यवस्थापन-कार्य की सफलता या असफलता पर रिपोर्ट करे, और विभाग की जिन समस्याओं पर जांच होना आवश्यक हो उनकी जांच करे। अपने विभाग की नीति का उत्तरदायित्व मन्त्री पर ही रखना आवश्यक है; परन्तु अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके कार्य और व्यवस्थापिका के कार्य के बीच अधिक घनिष्ट

सम्बन्ध होना जरूरी है। अन्यथा, व्यवस्थापिका परिषद्, सिवाय कभी-कभी उन अवसरों के जब वह विद्रोह कर दे, सामान्यतः कार्यकारिणी की आज्ञाओं को क़ानून के रूप में परिणत करने का एक साधन-मात्र बन जाती है।

मैंने बताया है कि व्यवस्थापिका का जीवनकाल लगभग पाँच वर्ष होना उचित है। परन्तु, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की भाँति, यह वांछनीय नहीं है कि यह निश्चित काल ही हो। ऐसे अवसर उत्पन्न होजाते हैं जब लोगों की राय लेना वांछनीय होजाता है, उदाहरणतः, सम्भव है कि कभी कोई नवीन और अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार सामने आजाय। इस प्रयोजन के लिए, और जब सरकार की हार होजाय और वह विश्वास करती हो कि व्यवस्थापिका का सम्पर्क लोकमत से छूट गया है, तब उस परिषद् को पुनर्निर्वाचन के लिए भंग करने की शक्ति का रहना आवश्यक है। यह शक्ति किसके हाथ में रहनी चाहिए ? मेरे विचारानुसार इस शक्ति का मन्त्रि-मण्डल के सिवाय अन्यत्र रहना उपयोगी न होगा। मन्त्रि-मण्डल ही क़ानून-निर्माण की आवश्यकरूपेण प्रेरक शक्ति है; उस की नीतियों पर ही मुख्यतया वाद-विवाद हुआ करता है। परिषद् भङ्ग करने की शक्ति यदि राज्य-संस्था के नैयमिक प्रधान पुरुष के हाथ में रक्खी जाय तो उसकी निष्पक्षता-संबन्धी बड़ी-बड़ी समस्यायें उत्पन्न हो जायँगी; और यह आशा नहीं की जा सकती कि कोई भी व्यवस्थापिका अपने ही भङ्ग के विषय में बुद्धिमत्तापूर्वक मत देगी। इस शक्ति का दुरुपयोग होना भी सम्भव नहीं

है। क्योंकि इसका अबुद्धिमत्ता-पूर्ण उपयोग होने से न केवल निर्वाचक-मण्डल की असहमति ही प्राप्त होगी, किन्तु बुद्धिमत्ता-पूर्ण उपयोग न कर सकनेवाले अन्ततः, अपने ही दल के समर्थकों द्वारा उस अधिकार से निश्चय ही वंचित कर दिये जायँगे। अचानक परिषद्-भंग करने की शक्ति का यह भी एक लाभ है कि इस के द्वारा कार्यकारिणी अपने समर्थकों को (और विरोधियों को) सचेतन रख सकती है; और इसके आकस्मिक गुण के कारण व्यवस्थापिका की कार्यवाही में निर्वाचक-मण्डल की निरन्तर रुचि रहती है। इस दृष्टिकोण से यह जान लेना महत्वपूर्ण है कि व्यवस्थापिका सर्वोत्तम काम प्रायः तभी करती है जब सरकार के पक्ष का बहुमत इतना अधिक हो कि वह व्यापक कार्यक्रम पूरा कर सके, परन्तु इतना अधिक भी न हो कि उसको अत्यधिक सत्ता मिल जाय। राजनीति में जनता की रुचि सबसे अधिक तभी होती है जब राज्य-संस्था की सरकार सम्भवनीय हार के वातावरण में रहती है।

मैं यह पहले ही बता चुका हूँ कि आधुनिक बड़े परिमाण की राज्य-संस्था यदि अपना कार्य सजीव ढङ्ग से करना चाहे तो उसे बड़े परिमाण में निष्केन्द्रीकरण करने की आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट है कि व्यवस्थापिका ही एक ऐसा नैयमिक स्थान रहना चाहिए जहाँ राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशों का स्वरूप-निर्णय हो, परन्तु, साथ ही वह तबतक अच्छी तरह नहीं चल सकती जब तक कि उसकी शक्तियों का काफ़ी भाग अन्य अधीन संस्थाओं

को समर्पित न कर दिया जाय। यह कार्य सर्वोत्तम-रीत्या तीन प्रकार से हो सकता है: (१) वह सब मामले जिनका स्वरूप भौगोलिक है, जैसे, स्थानीय माल का लाना-लेजाना, स्थानीय निर्वाचित परिषदों के सिपुर्द कर देना चाहिए जो उपयुक्त क्षेत्र का नियन्त्रण करें। इनके हाथ में परिमित शक्तियाँ नहीं, बल्कि यह अधिकार होना चाहिए कि ये उन सब मामलों में कार्यवाही कर सकें जो स्पष्टतया उनके अधिकार-क्षेत्र से बाहर निर्धारित नहीं कर दिये गए हैं। इन्हें समान प्रयोजनों के लिए सम्मिलित होजाने का अधिकार भी होना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य; जैसे कुछ मामलों में द्रव्य-सहायताओं और निरीक्षणाधिकार के द्वारा उनसे अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। (२) उद्योग-धंधों के लिए केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित कुछ सामान्य प्रकार की न्यूनतम शर्तों की सीमा के अन्दर, छोटी व्यवस्थापिकायें बना देनी चाहिएँ जिनको नियम बनाने की शक्ति भी दी जाय जो, उचित संरक्षणों के साथ, आवश्यक-रूप से काम में लाई जा सके। तात्पर्य यह है कि हमको उद्योग-धंधों के लिए भी उचित परिवर्तनों के साथ उसी प्रकार के स्वशासन को विकसित करना चाहिए जैसा कि क़ानून और डाक्टरी पेशों के लिए विद्यमान है। (३) संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) के अन्तर-राज्य-वाणिज्य-कमीशनतथा ग्रेट-ब्रिटेन के विद्युत-कमीशन जैसी छोटी संस्थाओं के हाथ में, उन औद्योगिक तथा वैज्ञानिक स्वरूप के मामलों में नियम बनाने की व्यापक शक्तियाँ दे देनी चाहिए (क)

जिन पर व्यवस्थापिका सुगमता से वाद-विवाद नहीं कर सकती और (ख) जिनका परिणाम किसी स्पष्ट और निश्चित निर्वाचन-क्षेत्र के अन्दर सीमित नहीं रहता। तीनों अवस्थाओं में, स्वभावतः ही अन्तिम निरीक्षण करने की शक्ति तो केन्द्रीय व्यवस्थापिका के अन्तर्गत ही रहनी चाहिए; परन्तु साधारण नियम यह है कि वह जितनी कम और नैयमिक रक्खी जा सकेगी, शासन-सञ्चालन भी उतना ही उत्तम हो सकेगा।

३

राज्य-संस्था की कार्यकारिणी के दो पहलू हैं—एक राजनीति-सम्बन्धी दूसरा राज्य-विभाग सम्बन्धी। वह, एक ओर तो, व्यवस्थापिका के सामने स्वीकृति के लिए एक नीति उपस्थित करनेवाले और उसके स्वीकृत होजाने के बाद उसको कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व रखनेवाले कुछ राजनीतिज्ञों का छोटा-सा समूह है; और दूसरी ओर, राजनितज्ञों के किये हुए निर्णयों को कार्यान्वित करनेवाले पदाधिकारियों का बड़ा भारी समूह है। स्पष्टतः इन दोनों वर्गों में शक्ति की अपेक्षा व्यक्ति सम्बन्धी भिन्नता अधिक है, क्योंकि दीर्घकालीन अनुभव रखनेवाला एक महत्वशाली पदाधिकारी यद्यपि नियमानुसार अपने राजनैतिक मुखिया का अधीनस्थ होता है, तथापि राजनैतिक मुखिया की दृष्टि में उसका बड़ा महत्व रहेगा और निर्णयों के करने में उसका बड़ा प्रभाव पड़ेगा।

राज्य-संस्था के राजनैतिक मुखिया लोग ही साधारणतः मन्त्रि-मण्डल कहलाते हैं। यह उचित है और अच्छे शासन के लिए

वास्तव में आवश्यक भी है कि वे व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्य हों। वे उस स्थान से ही शक्ति प्राप्त करते हैं और उस स्थान पर ही उस शक्ति के प्रयोग के लिए उत्तरदायी होते हैं। इसका अर्थ यह है कि, सामान्यतः, मन्त्रि-मण्डल एक ही दल का बना हुआ होना चाहिए, क्योंकि केवल इसीसे दृष्टिकोण की वह एकता हो सकती है, जिससे नीति की सुसम्बद्धता रहना सम्भव है। मन्त्रि-मण्डल छोटा होना चाहिए; अनुभव यह बताता है कि यदि उसकी संख्या लगभग १२ से अधिक होजाती है तो उसके अन्दर आन्तरिक सम्बद्धता नहीं रह पाती। उसके अधिकांश सदस्यों पर शासन, वैदेशिक नीति, अर्थनीति, और व्यापार-व्यवसाय के किसी-न-किसी बड़े कर्तृत्व का भार होना चाहिए। परन्तु उसमें सबका सञ्चालन करनेवाला और सबको संयोजित कनेवाला एक मस्तिष्क भी होना चाहिए जिस पर किसी विशेष राज्य-विभाग का विशेष भार न हो; और कम-से-कम एक और भी ऐसा सदस्य होना चाहिए (जिसका नाम सामान्यतः विभाग-रहित मंत्री होता है) जिसकी सेवाएँ विशेष कार्यभार आ पड़ने पर काम में आसकें।

मन्त्रि-मण्डल का प्रधान, या तो संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की भाँति राज्य-संस्था का भी नैयमिक प्रधान-पुरुष हो सकता है, या इङ्गलैण्ड और फ्रांस की भाँति उसका पद भिन्न हो सकता है, और राज्य-संस्था का प्रधान-पुरुष मुख्यतः शिष्टाचारार्थक व्यक्ति हो सकता है जिसका राजनैतिक कर्तृत्व शासन सञ्चालन जारी रखना ही है। दोनों पद्धतियों में से किसी में भी एक दूसरे से मौलिक

श्रेष्ठता नहीं है, परन्तु इङ्गलैण्ड व फ्रांस का तरीक़ा अधिक सुविधा-जनक है, क्योंकि इसमें प्रधानमन्त्री के रूप में मन्त्रि-मण्डल का प्रधान व्यवस्थापिका परिषद् में सरलता से भाग ले सकता है। वह सामान्यतया उस दल का नेता होता है जिसने उस परिषद् में प्राधान्य प्राप्त किया है। उसके सहकारियों का चुनाव किस प्रकार होना चाहिए ? अधिकांश राज्य-संस्थाओं में वह स्वयं अपने सह-कारियों को उन लोगों में से चुनता है जो उसके विचारानुसार सम्मिलित-रूप से शासन-सञ्चालन के सर्वोत्तम साधन हो सकेंगे; परन्तु आस्ट्रेलिया में मज़दूर-दल अपने मन्त्रि-मण्डल को अपने दल के अधिवेशन में चुनता है।

मेरे विचारानुसार, इसमें अधिक संदेह का अवकाश नहीं है कि प्रधान-मन्त्री को अपने सहकारियों को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किसी सरकारी विभाग का सञ्चालन करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वह ऐसे नहीं होते कि उनका निर्धा-रण निर्वाचन द्वारा होसके। इसमें सहयोगी-भाव और समुच्चय-कार्य (team-work) की समस्याएँ उठती हैं, जिसका अर्थ है कि विवेचना-पूर्वक चुनने की पद्धति की आवश्यकता है, जिसके लिए बहुमत द्वारा निर्वाचन का क्रम अत्यन्त अपूर्ण साधन है। यदि मान भी लिया जाय कि प्रधानमन्त्री न केवल ग़लतियाँ ही करेगा बल्कि व्यक्तियों को अनुचित महत्व भी प्रदान कर देगा तो भी वह सम्भ-वतः उतनी ग़लतियाँ नहीं कर सकता जितनी कि आस्ट्रेलिया का मज़दूर-दल या अमेरिका की जनता सभापति के चुनाव में करती

है; आस्ट्रेलिया और अमेरिका की यह पद्धति लॉटरी से बहुत अधिक समानता रखती है, और वेगहॉट के कथनानुसार, लॉटरी में सफलता होजाना उस पद्धति के लिए साधक युक्ति नहीं है। और प्रधानमन्त्री जिन-जिन हेतुओं का ध्यान रखता हुआ सहकारी चुनता है, वे स्वयं ही सामान्यतः यथेष्ट संरक्षण हैं। प्रत्येक दल में ऐसे मनुष्य होते हैं जो उससे कम प्रतिष्ठा और स्थिति के नहीं होते। उसे उनको चुनना पड़ता है और उनका समर्थन तभी मिल सकता है जब वह अन्य नियोजनाएं भी बुद्धिमत्ता-पूर्वक करे। यह मानते हुए कि मन्त्रि-मण्डल के स्थानों के लिए चुने हुए लोग व्यवस्थापिका परिषद् की कठिन उम्मेदवारी में से गुजरते ही हैं, उनमें से अधिकांश जिन स्थानों को प्राप्त कर लेते हैं वे उनपर नियोजित होने योग्य ही होते हैं।

कार्यकारिणी शासन के अ-राजनैतिक पहलू के कारण दूसरे ही प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। मोटे तौर पर, उससे तीन प्रकार के प्रश्न खड़े होते हैं; (१) उसकी रचना और सङ्गठन किस प्रकार होना चाहिए ? (२) उसका कर्तृत्व क्या होता है ? (३) वह जिस जनता की मूलतः सेवा करता है उससे उसके क्या-क्या सम्बन्ध होने चाहिएँ ? स्पष्टतः, इनमें से दूसरे प्रश्न पर हमारा जो उत्तर होगा उसीसे प्रथम और तृतीय प्रश्न उत्पन्न होंगे। राज्य-संस्था के पदाधिकारी लोग अपने राजनैतिक मुखिया की आज्ञाओं को कार्यान्वित करते हैं। मन्त्रियों का कर्तृत्व यह होता है कि वे ऐसी नीति का निर्माण करें जो अधिक-से-अधिक व्यापक सार्वजनिक

माँग को पूर्ण करें, और व्यवस्थापिका द्वारा उसके स्वीकृत होजाने पर उसको अधिक-से-अधिक परिणामकारी बनावें। यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक राज्य-संस्था जिस बड़े परिमाण की है, उसमें वे इस कार्य पर सामान्य ध्यान से अधिक नहीं दे सकते। उन्हें सार्वजनिक माँग के परिज्ञान के लिए, उसको पूर्ण करने के शक्य मार्गों की सविस्तर सूचना के लिए और क़ानून को प्रतिदिन और ब्योरेवार कार्यान्वित करने के लिए अपने पदाधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। शासनाधिकारारूढ़ दल का स्वरूप कुछ भी हो, यह सब काम न्यूनतम सङ्घर्ष के साथ होने चाहिएँ।

इस उद्देश्य के लिए पदाधिकारियों का तटस्थ होना आवश्यक है; उनको प्रत्येक अधिकारारूढ़ दल की पूर्ण हार्दिक रूप से और कुशलता से समान सेवा करनी चाहिए। तटस्थ रहने के लिए, उन्हें कार्य-योग्यता के प्रतिबन्ध के साथ, इस बात का अभिवचन दिया जाना चाहिए कि उनकी सेवाएँ स्थायी रखी जायँगी; और यथाशक्य श्रेष्ठतम कार्य के प्रोत्साहन के लिए पदोन्नति की पद्धति होनी चाहिए, जिससे योग्य व्यक्तियों का पता लग सके और उन्हें योग्यतानुसार उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने का अवसर मिल सके। ऐसे गुणों को उपलब्ध करने के लिए, पदाधिकारियों की नियुक्ति का कार्य सदा सामयिक सरकारों से स्वतन्त्र एक कमीशन के हाथ में होनी चाहिए, उसपर सामायिक सरकार जितना कम दबाव डाल सके राज्य-संस्था के लिए उतना ही अच्छा होगा। साधारणतः, कमीशन को पदाधिकारी चुनने का तरीक़ा ऐसा ग्रहण करना

चाहिए जिससे पक्षानुग्रह-भाव न्यूनतम होजाय, और मोटे तौर पर इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए, विशेषज्ञता सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त अन्य सब पदों के लिए प्रतियोगात्मक परीक्षाएँ सर्वोत्तम साधन हैं। एक बार जब उम्मेदवार सेवा में प्रविष्ट कर लिया जावे, तो, यदि वह कार्ययोग्य और सद्वृत्त हो, उसे निश्चय रहना चाहिए कि उसका पद सेवा-निवृत्ति की वय तक क़ायम रहेगा। यह वय काफ़ी नीची आयु पर निश्चित की जानी चाहिए, ताकि राज्य-विभागों के लिए ऐसे स्थायी प्रधानाधिकारी प्राप्त होसकें जो अपनी पीढ़ी के नये विचारों के सम्पर्क में रहते हों।

यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि पदाधिकारी जगत की निश्चित धारणायें यथाशक्य अधिक-से-अधिक परिवर्तनशील होनी चाहिएँ। नागरिक सेवा-श्रेणी (सिविल सर्विस) में नौकरशाहीपन का ख़तरा रहता है, और इसको उत्पन्न करनेवाले कारण दैनिक-कार्य-पद्धति की दुष्परिवर्तनशीलता और पुरानेपन के अनुसार पदोन्नति देना हैं। पदाधिकारियों के विषय में सदा इस बात की आशङ्का रहती है कि वे दैनिक कार्य-निर्वाहन को कार्यकुशलता और पुरानेपन को अनुभव समझ बैठते हैं। वे स्वतः कार्य करने की प्रवृत्ति और नवीन प्रयोग से डरते हैं, और प्रायः यह समझ लेते हैं कि आलोचना से बचे रहना ही सुव्यवस्थित राज्यविभाग का प्रमाण है। सेवा-श्रेणी की सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि इन ख़तरों से बचने के लिए संरक्षणों की व्यवस्था की जाय। वास्तव में इनके निवारण के लिए कोई स्पष्ट नियम नहीं है। राजनैतिक

मुखियाओं की बुद्धिमत्ता पर बहुत कुछ निर्भर है; और कदाचित् इससे भी अधिक सेवा-श्रेणी की ही 'समूहान्तर्गत ऐक्य-भावना' पर निर्भर है। परन्तु ध्यान देने योग्य नियम यह है कि पदाधिकारियों को अपना कार्य तर्कशील और विचार-क्षम लोकमत के वातावरण में करना चाहिए।

चूँकि, पदाधिकारियों को सेवा जनता की ही करनी है, इसलिए जनता द्वारा ही उनका गुण-दोष-परीक्षण होना चाहिए। यदि सेवा और गुण-दोष-परीक्षण दोनों का उचित रूप से होना आवश्यक हो, तो शासन-पद्धति के साथ लोकमत को उचित रूप से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परामर्श-दायिनी समिति की तरकीब अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जहाँ-जहाँ किसी राज्य-विभाग का किसी सामाजिक स्वार्थ के साथ सम्पर्क आता हो, वहाँ-वहाँ, जो संस्थाएँ उस स्वार्थ की हितसाधक होवें, परामर्श-सम्बन्धी सहयोग के लिए राज्य-विभाग से सम्बद्ध कर दी जानी चाहिएँ। उदाहरण के लिए, शिक्षा-विभाग के कार्य का, प्रत्येक पद पर, शिक्षकों, डाक्टरों, मनोविज्ञानज्ञों, माता-पिताओं आदि के सङ्गठित सङ्घों से निरन्तर सम्पर्क बना रहना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यदि उपयुक्त साधन-तन्त्र न होंगे, तो शासन-सञ्चालन के कार्य में न केवल सजीवता ही न होगी, बल्कि अपने परिणामों के विषय में तीव्र सचेतनता भी न होगी, जो उसकी उत्तमता की सच्ची कसौटी है। नागरिक सेवा-श्रेणी वालों और जनता के पारस्परिक शिक्षण के लिए परामर्श-दायिनी समिति

से अच्छा उपाय और कोई नहीं है। सेवा-श्रेणीवाले लोग तो समझा करके शासन करने की कला सीखते हैं, और जनता को यह ज्ञात होजाता है कि किस स्थान पर उनकी वास्तविक माँगों में उनके स्वाभाविक भावोद्वेग और प्रचार के कारण विरूपता उत्पन्न होती है। वैध सरकार का वहुत कुछ भविष्य इस साधन को काम में लाने की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है।

अन्त में, पदाधिकारियों की तटस्थता, और राज्य-संस्था के सेवकों के रूप में उनकी स्थिति के कुछ परिणामों का थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक है। मेरे विचारानुसार, यदि सरकार और साधारण समाज दोनों को उस तटस्थता में विश्वास रखना हो, तो यह आवश्यक है कि नीति-निर्माण में भाग लेनेवाले सव नागरिक-सेवा-श्रेणीवालों को राजनैतिक जीवन में भाग न लेना चाहिए। यह वहिष्कार निम्न-पदस्थ कर्मचारियों पर लागू होना आवश्यक नहीं; परन्तु उदाहरणतः, अनुदार विचार के किसी भी मन्त्री को अपने स्थायी सेक्रेटरी पर सहसा विश्वास नहीं हो सकता, यदि उसे यह ज्ञात होजाय कि वह अपना सायं-समय नित्य उग्र साम्यवादी प्रचार में व्यतीत करता है। राजनैतिक उम्मेदवारों के लिए भी युक्तितः यही वन्धन लागू होता है; कोई उच्च-पदाधिकारी व्यवस्थापिका परिषद् में प्रवेश करने और हार जाने पर सेवा-श्रेणी में लौट आने की आशा नहीं कर सकता। यहाँ पदाधिकारियों के विषय में जो वात कही गई है, वही राज्य-संस्था की सेनाओं और पुलिस के वारे में अधिक उपयुक्तता के साथ लागू होती है।

उनके अन्दर राजनैतिक प्रवृत्तियों का बढ़ना नागरिक आज्ञाओं की उस निःशङ्क स्वीकृति के लिए घातक होगा जिसपर सामान्य अवस्था में राज्य-संस्था का कल्याण निर्भर है। ऐसे नाजुक स्थान पर विशेष पक्षपात या धारणा का होना, कभी-न-कभी, पदाधिकारियों को प्रीटोरिया की रक्षा-सेना बना देगा; और फिर वहाँ से एकतन्त्र शासन की ओर क़दम बढ़ना उतना ही अनिवार्य होगा, जितना वह अचिरस्थायी होगा।

इससे, स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि राज्य-संस्था के पदाधिकारियों को समेम्लन की स्वतन्त्रता किस सीमा तक है। यह समस्या जटिल है; और मैं यहाँ कुछ निष्कर्षों का केवल सूत्र रूप में वर्णन करूँगा। सशस्त्र सेना और पुलिस का राज्य-संस्था से जो सम्बन्ध है, उसके कारण यह आवश्यक होजाता है कि उनके हड़ताल करने के अधिकार का क़ानूनन निषेध किया जाय; परन्तु इसके बदले में उनको एक ऐसे स्वशासन को पूर्ण विकसित करने का अधिकार होना चाहिए जिसमें उनकी प्रत्येक टुकड़ी को अपने कार्य करने की अवस्थाओं का निर्णय करने में पूर्ण भाग मिल सके, और जिन बातों में उनके और सरकार के बीच मतभेद उत्पन्न होजाय, उनमें उन्हें इङ्गलैण्ड के 'इण्डस्ट्रियल कोर्ट' जैसी किसी स्वतन्त्र न्याय-पञ्चायत द्वारा निर्णय कराने का अधिकार हो। नागरिक सेवावालों के लिए मेरे विचारानुसार, ऐसा निषेध लागू नहीं हो सकता, और यदि इसका काम में लाना आवश्यक भी होजाय तो भी सफल नहीं हो सकता। निश्चय ही, राज्य-संस्था को ऐसा

तन्त्र स्थापित करने का अधिकार है जिसके सामने सरकार और उसके सेवकों के झगड़े, सेवकों के हड़ताल करने से पहले, निर्णय के लिए अवश्य लाये जाने चाहिएँ; और वहुत सम्भव है कि ऐसा तन्त्र सामान्यतः सफल होगा। परन्तु, मेरे विचारानुसार सेवा लेनेवाले की हैसियत से, राज्य-संस्था को अपने सर्वोपरि-सत्तात्मक स्वरूप पर जोर देने का अधिकार नहीं है। इस अवस्था में उसका, प्रत्येक मजदूरी करानेवाले व्यक्ति की भांति, यही कर्तव्य है कि वह अपने सेवकों को अपने नियमों की न्याय्यता समझाकर उनकी निष्ठा प्राप्त करे: और उन लोगों को अधिकार है कि जिन सामान्य उपायों से एक मजदूर-सङ्घ अपने श्रम की अवस्थाओं को सुधारता है, उनका प्रयोग करें। और इसका भी कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता कि, राज्य-संस्था के निम्न-पदस्थ कर्मचारियों को, अन्य वाहर के उद्योग-धन्धों में अपनी समान अवस्थावाले श्रमिकों के साथ, अपने इच्छित योग्य उपायों से अपनी अवस्था सुधारने के लिए सम्मिलित होने का समान अधिकार क्यों न हों। सरकारी पद पर काम करने के गौरव से, क्लर्कों या पोस्टमैनों को जो अपने प्रति अन्यायोचित व्यवहार प्रतीत होता है उसकी उपयुक्त क्षतिपूर्ति नहीं होती।

४

मैं पहले ही वता चुका हूँ कि क्यों शासन-कार्य को कार्यान्वित करने में न्यायकारिणी का स्वतन्त्र होना महत्वपूर्ण है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, तीन सिद्धान्त ध्यान देने योग्य हैं। (१) नियुक्ति

का तरीक़ा ऐसा होना चाहिए कि न्यायाधीशों के चुनने में राजनैतिक हेतुओं की संभावना न्यूनतम होजाय; (२) जिन व्यक्तियों की नियुक्ति हो उनको, वशर्ते कि उनका व्यवहार ठीक रहे, अपने पद के स्थायित्व का आश्वासन मिलना चाहिए। (३) पदोन्नति में केवल क़ानूनी उत्कर्ष का ध्यान रखा जावे। प्रथम सिद्धान्त से न्यायाधीशों के चुनने में जनता द्वारा या व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन का तरीक़ा ठीक नहीं ठहरता; न्यायाधीश के पद के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है वह निर्वाचन-पद्धति के लिए उपयुक्त होनेवाली कसौटी से भलीभाँति नहीं जाँचे जा सकते। तव सम्भवतया तीन तरीक़े शेष रहते हैं। पहला तरीक़ा, फ्रांस की भांति, यह है कि प्रतियोगात्मक परीक्षा द्वारा न्यायाधीशवृन्द चुना जावे, और ऊँचे पदों पर उन्नति योग्यता के प्रमाणों पर निर्भर रहे। इस तरीक़े के विषय में काफ़ी कहा जा सकता है; निश्चय ही इससे फ्रांस को वड़ा विद्वान् न्यायाधीश-समाज मिला है, जिसमें अपने पेशे की प्रतिष्ठा की उच्चतम भावना है। इस तरीक़े में मेरी शङ्का यह है कि प्रथमतः तो न्यायाधीशोचित गुणों में कई ऐसे गुण हैं जिनकी जाँच प्रवेश के तरीक़े से नहीं हो सकती; और, इंग्लैंड के न्यायाधीश की अपेक्षा फ्रांस के न्यायाधीश की दृष्टि केवल क़ानूनी और सङ्कुचित रहती है। फ्रांसीसी न्यायाधीश सामान्यतः अच्छा न्यायाधीश होता है; परन्तु जिस सङ्कुचित अनुशासन में होकर उसका जीवन व्यतीत होता है उसके कारण वह न्याय-सम्बन्धी अनुभव के अतिरिक्त सब प्रकार के अनुभव

से अनुचित रूप से पृथक् होजाता है। दूसरा तरीक़ा वह है जो इङ्गलैंड में, और सङ्घीय नियुक्तियों के लिए संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) में है, जहाँकि नीचे और ऊपर के दोनों ही न्यायालयों के न्यायाधीश कार्यकारिणी द्वारा नियोजित किये जाते हैं। इस पद्धति ने हमें निःसन्देह बहुत से अच्छे-अच्छे न्यायाधीश दिये हैं, जैसा कि मैन्सफ़ील्ड और मार्शल, जैसेल और बॉवेन और होम्स जैसे नामों से स्पष्ट प्रकट होता है; परन्तु जो कोई पिछले सौ वर्षों की नियुक्तियों का सूक्ष्म निरूपण करेगा उसे सन्देह न रहेगा कि उनमें राजनैतिक हेतुओं का बहुत अधिक भाग है। मैं इन दोनों की अपेक्षा एक तीसरा ही तरीक़ा पसन्द करूँगा, जिसमें कि न्यायाधीश लोग स्वयं ही कार्यकारिणी के सामने एक छोटी-सी नाम-सूची उपस्थित करें, जिसके बाहर कार्यकारिणी अत्यन्त अपवाद-स्वरूप परिस्थितियों में ही जावे। इसी प्रकार न्यायाधीशों को पदोन्नति की सिफ़ारिशें स्वयं ही करनी चाहिएँ, और उसमें केवल यह बन्धन रहे कि जो व्यक्ति केवल पाँच वर्ष से ही न्यायाधीश है या जो पाँच वर्ष के अन्दर सेवा से निवृत्त होनेवाला है वह नियोजित किये जाने योग्य न समझा जाय। मेरे विचारानुसार यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीश राजनैतिक पद लेने से वञ्चित रखे जायँ; और राजनैतिक पद पर रह चुकनेवाला कोई भी व्यक्ति जबतक कि उसको पद से निवृत्त हुए तीन वर्ष न बीत चुके हों, न्यायाधीश पद के लिए नियोजित न किया जाय। मेरे विचारानुसार, यह बात भी महत्वपूर्ण है कि न्यायाधीशों को सत्तर वर्ष की

आयु पर आवश्यकरूपेण निवृत्त कर दिया जाय, साथ ही उन्हें यह भी स्वतन्त्रता हो कि वे पन्द्रह वर्ष न्यायाधीश पद पर सेवा करने के बाद स्वेच्छापूर्वक निवृत्त होसकें।

ऐसी पद्धति के गुण स्पष्ट हैं। इस पद्धति के कारण हमारा ऐसे न्यायाधीशों के ख़तरों से संरत्तण होजाता है, जो संकुचित और विशेप पेशेरूप जाति के सदस्य होने के कारण प्रारम्भिक यौवन के समय से ही निरन्तर शेष संसार से पृथक् रहे हैं। यह पद्धति किसी क़ानूनपेशा व्यक्ति के राजनैतिक सेवा के बदले में पदोन्नति या नियुक्ति प्राप्त कर सकने के अवसर को न्यूनतम कर देती है। प्रथमतः तो, न्यायाधीश-मण्डल द्वारा कार्यकारिणी के विचारार्थ नाम चुनवाने से यह बात मान ली जाती है कि जिन लोगों को पेशे सम्बन्धी योग्यताओं का सबसे अधिक अनुभव है उनको ही उन योग्यताओं का महत्व-निर्धारण करने का अधिकार होना चाहिए; और कार्यकारिणी के हाथ में एक के बदले में दूसरे को चुनने का अपवाद-स्वरूप अवसरों पर काम में लाया जाने-वाला अधिकार होने से न्यायाधीश-मंडल के पत्तानुग्रह-भाव का ख़तरा परिमित होजाता है। यह भी कहना आवश्यक है कि मेरे विचारानुसार इंग्लैंड की-सी वह पद्धति अवाञ्छनीय है, जिसमें कोई भी सामान्य व्यक्ति, सामान्यतः छोटी-मोटी राजनैतिक सेवाओं के बदले में, छोटा न्याय-पदाधिकारी बनाया जा सकता है; सामान्य व्यक्ति के लिए उचित स्थान अधिक-से-अधिक, फ़ौज-दारी मामलों के सहायक न्याय-मण्डल ज्यूरी में हो सकता है।

सामान्य सहायक-न्याय-मण्डल का महत्व भी उन मामलों में संदिग्ध है, जहाँ हुण्डी (बिल आव् एक्सचेञ्ज) इत्यादि के व्यापारादि सम्बन्धी अत्यन्त विशेषज्ञतापूर्ण बातों के सम्बन्ध में निर्णय करना होता है। इस क्षेत्र में, जहाँ सहायक न्याय-मण्डल पद्धति रखी गई है, वहाँ ऐसे व्यक्तियों का एक विशेष मण्डल रखना अधिक अच्छा होगा, जिनके विशेष अनुभव के कारण उपस्थित मामलों पर दिये जानेवाले निर्णयों को विशेष महत्व मिलता हो।

किसी भी सुव्यवस्थित राज्य-संस्था में न्यायकार्य के सञ्चालन में चार सिद्धान्त दिखाई देंगे। सरकार के अपराधों पर भी ठीक वही उत्तरदायित्व होगा जो साधारण नागरिक के अपराधों पर होता है: कोई भी राज्य-संस्था वास्तविक रूप में न्याय के शासन के अधीन नहीं कही जा सकती जहाँ उसके कार्यकर्ताओं के दुष्कार्यों के लिए उनका प्रमुख पुरुष दोष-योग्य न हो। सर्वोपरि सत्ता के कारण उसके नाम पर काम करनेवाले व्यक्तियों को उत्तरदायित्व-हीनता न मिल जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त, जहाँ कार्यकारिणी के हाथ में समर्पित व्यवस्थापन-शक्ति हो, वहाँ उस शक्ति की क़ानूनी सीमा का प्रश्न सदा साधारण न्यायालयों द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए। तृतीयतः, यह आवश्यक है कि न्याय-सम्बन्धी प्रणाली कभी इतनी ख़र्चीली नहीं होनी चाहिए जिससे निर्धन नागरिक न्यायालयों तक पहुँचने से ही वञ्चित रह जायें; मनुष्यों में इस विश्वास के उत्पन्न होने देने की अपेक्षा, कि साधनाभाव के कारण हम न्याय प्राप्त नहीं कर सकते, तो यह

अच्छा होगा कि तुच्छ महत्वहीन मामले भी बड़ी संख्या में पेश होने दिए जायँ। अन्तिम बात यह है कि क़ानूनी तरीक़ों के सुधार करने की ओर राज्य-संस्था का निरन्तर ध्यान रहना चाहिए। इसके लिए, न केवल यही आवश्यक है कि न्याय-सम्बन्धी संस्थाओं के कार्य की, विशेषतः फौजदारी अङ्गों की, निरन्तर जाँच होती रहे; प्रत्युत यह भी आवश्यक है कि उन संस्थाओं के सञ्चालन में जिन-जिन का भाग रहता हो, वे अपने अनुभव को लेखबद्ध करते रहें। क़ानून-सुधार के विषय में एक स्थायी कमीशन रखना, जिसमें न्यायाधीश वकालत-पेशा और साधारण लोग सभी समान रूप से भाग लेसकें, आजकल के समय की एक सबसे बड़ी आवश्यकता है।

५

मैंने, यहाँ, लोकमत के महत्व का निरन्तर वर्णन किया है; और यह विवेचन तबतक पूर्ण नहीं हो सकता जबतक कि लोकमत सम्बन्धी कुछ अत्यन्त आवश्यक समस्याओं का थोड़ा-सा उल्लेख न किया जाय। दो बातें स्पष्ट हैं; लोकमत की उत्तमता उसको प्राप्त होनेवाले समाचारों की सत्यता पर निर्भर रहती है; और वह जितना ही सङ्गठित होगा उतनी ही उसकी प्रभावोत्पादन-शक्ति होगी। अथवा, दूसरा सिद्धान्त कदाचित् सर्वोत्तम शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि सामान्य लोकमत जैसी कोई वस्तु प्रायः है ही नहीं। प्रायः होता तो यह है कि, जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं उनपर लोक-सम्मतियों की शृङ्खला का विकास हुआ

करता है; और इन लोक-सम्मतियों की सापेक्ष शक्ति उनके ज्ञान और सङ्गठन प्राप्त कर सकने की शक्ति पर निर्भर रहती है।

अब जो कोई आधुनिक समाज में समाचारों की सत्यता की समस्या पर छानबीन करेगा, उसे प्रथम तो यह ज्ञात होगा कि यह समस्या बड़ी जटिल है, और दूसरी बात यह कि समाचारों के संग्रह करने और वितीर्ण करने में तथ्यों को यथावत् प्रकट करने का प्रयत्न नहीं होता। यदि समाचार के तत्व से नीति पर प्रभाव पड़ सकता हो तो वह प्रचार बन जाता है; और विषमता-पूर्ण समाज में समाचार का रुख़ आर्थिक-शक्ति-धारियों के लिए लाभ-दायक बना लिया जाता है। अधिकांश मनुष्यों को समाचारों के लिए समाचार-पत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह समाचार-पत्र मिलनेवाले विज्ञापनों पर अवलम्बित रहते हैं; और इनका निकालना इतना व्ययपूर्ण होता है कि केवल धनिक लोग ही इनको प्रारम्भ कर सकते हैं। परन्तु चूँकि वह विज्ञापक पर अवलम्बन रखते हैं, इसलिए उन्हें अधिकांश ऐसे समाचार छापने पड़ते हैं और इस प्रकार टिप्पणियाँ लिखनी पड़ती हैं कि जिससे जो लोग विज्ञापक द्वारा बेची जानेवाली वस्तुएँ ख़रीदते हैं उनको सन्तोष मिले; अन्यथा वे अपने पत्र की बिक्री उन लोगों में नहीं कर सकते जिनकी कार्य-साधनार्थक माँगों की शक्ति काफ़ी बड़ी है। परिणाम यह होता है कि जिन समाचारों के सच्चे रुख़ के कारण धनिक वर्गों को कष्ट होना सम्भव है वे सम्बद्ध-रूप से पक्षपात-पूर्ण ढंग से दिए जाते हैं। रूसी क्रान्ति, या किसी बड़ी हड़ताल, या किसी

राष्ट्रीय-कृत कारखाने का कार्य-विवरण आदि घटनाओं को इस तरह से तोड़-मोड़ दिया जाता है कि जो नागरिक इनके स्वरूप का ज्ञान अपने समाचार-पत्र से प्राप्त करता है उसपर उनके विषय में प्रतिकूल प्रभाव पड़ सके। वह वास्तविकताओं को मानों एक ऐसे दर्पण में से प्राप्त करता है जिसमें उनका स्वरूप किसी विशेष स्वार्थ के बहुत अधिक अनुकूल बन जाता है। जबतक नीति के परिणाम में लोगों के स्वार्थ विषम रहते हैं, तबतक उनको मिल सकनेवाले समाचारों को इस प्रकार चुना और महत्व दिया जाता है कि जिससे उनका सच्चा अर्थ न निकल सके। केवल समानता-पूर्ण समाज में ही सत्य बात छापना लाभदायक होता है।

अन्ततः, लोकमत जितना अधिक सङ्गठित होता है उतना ही अधिक बलवान होता है; और सङ्गठन आर्थिक शक्ति के अनुरूप होता है। धनिक खान-मालिकों के एक छोटे समूह को सङ्गठित करना, निर्धन मजदूर-सङ्घ-वादियों के एक बड़े समूह को संगठित करने की अपेक्षा अधिक सुगम है। थोड़े से खान-मालिकों को सुसम्बद्ध और एकता-पूर्ण बनाये रखना भी अधिक सरल है। इनमें गलती होजाने से आघात का अनुभव कम तेजी से होता है; और सफलता के परिणाम बहुत अधिक प्रत्यक्ष होते हैं। आर्थिक शक्ति अपनी निजी बुद्धि की अपेक्षा बहुत अधिक ज्ञान पर अधिकार कर सकती है। उसमें प्रतीक्षा करने का भी सामर्थ्य है, और प्रतीक्षा करने की आवश्यकता होने पर उसके सामान्य जीवन की रूप-रेखा के बहुत बदल जाने का अनुभव उसे नहीं होता। परन्तु

जिन लोगों के पास आर्थिक शक्ति नहीं है उनके संगठन को इनमें से प्रायः एक भी सुविधा नहीं होती। उसके मुख्य शस्त्र, जैसाकि हड़ताल में होता है, इतने व्ययपूर्ण होते हैं कि वह उनका प्रयोग करने का सामर्थ्य नहीं रखता। ज्ञान को ख़रीदने की उसकी शक्ति न्यून होती है, क्योंकि प्रायः ऐसे संगठन को जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है उससे उस ज्ञान को रखनेवाले लोगों की मनोवैज्ञानिक रुचियाँ विरुद्ध पड़ती हैं। संक्षेपतः विषमतापूर्ण समाज में लोकमत नैतिकता की दृष्टि से अपने दावे नहीं कर सकता। विषमता-पूर्ण शक्ति के कारण स्वार्थ जिस हदतक तोड़-मोड़े जाते हैं उसीके अनुसार उन दावों की न्याय-पूर्णता होती है। इसलिए, जबतक आर्थिक शक्ति के विभाजन में गहरी विषमतायें रहेंगी, तबतक कोई भी सामाजिक व्यवस्था अपने नागरिकों की माँगों को समानता से पूर्ण नहीं कर सकती, न गम्भीरता-पूर्वक उनके अधिकारों को समान रूप से स्वीकृत करने का प्रयत्न कर सकती है।

: ४ :

राज्य-संस्था और अन्तर्राष्ट्रीय समाज

१

अभीतक राज्य-संस्था की समस्याओं पर केवल इसी दृष्टि से विचार किया है मानो उनका सम्बन्ध केवल उस राज्य के नागरिकों से ही है। परन्तु वास्तव में एक राज्य-संस्था अन्य राज्य-संस्थाओं से बिल्कुल अलग नहीं बल्कि उन्हीं में से एक है। अतः हमारे सामने जो सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न आते हैं वे उन राज्य-संस्थाओं के पारस्परिक सम्बंध से उठनेवाली समस्यायें हैं, जो उस समय पैदा होती हैं जबकि एक राज्य-संस्था और उसके नागरिकों को दूसरी राज्य-संस्था और उसके नागरिकों से काम पड़ता है। पूर्वगृहीत मूल-सिद्धान्तों के अनुसार कोई भी राज्य-संस्था दूसरी राज्य-संस्था को आज्ञा नहीं दे सकती, क्योंकि यदि ऐसा होजाय तो आज्ञा पालनेवाली राज्य-संस्था के विधि-निर्देशों का स्वरूप वह न रहेगा, जिसपर कि, पूर्व विवेचनानुसार, राज्यतत्व का आन्तरिक स्वरूप निर्भर रहता है।

इसके अतिरिक्त, राज्य-संस्थाओं के पारस्परिक सम्बंधों को नियन्त्रित करने की भी आवश्यकता है, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून ऐसे नियमों का समूह है जिनके द्वारा विविध राज्य-संस्थाओं और उनके नागरिकों के पारस्परिक सम्बंधों को व्यवस्थित किया जाता है। यह नियम समाज में रहनेवाले मनुष्यों पर इस कारण लागू किये जाते हैं कि यदि यह न हों तो राज्यत्व के आन्तरिक स्वरूप से बाह्य स्वरूप पर पहुँचने पर हमारे सामने ऐसी अवस्था उत्पन्न होजाय जिसके लिए अराजकता शब्द ही प्रयुक्त होसके। यदि राज्य-संस्थाओं पर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बाध्य न हो तो अपने-अपने मन के अनुसार काम करने की इच्छा के अतिरिक्त उनके परस्पर के लिए अन्य कोई नियम ही न रह सकेंगे। और, वास्तव में, हॉब्स जैसे कई बड़े-बड़े विचारक ऐसे हुए भी हैं जिन्होंने यही निष्कर्ष स्वीकार किया है। उन्होंने अपने हेतुओं और उदाहरणों से बिलकुल युक्तिपूर्वक यह बताया है कि, चूँकि मनुष्यों की कोई भी संस्था राज्य-संस्था को आज्ञा नहीं दे सकती इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को राष्ट्रीय क़ानून के समान प्रामाणिक मानना असम्भव होजाता है। उनका कहना है कि यदि राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेश सर्वोपरि हैं तो, युक्तितः, अन्य कोई भी विधि-निदेश उनसे बड़े नहीं हो सकते। तो परिणाम यह निकलता है कि किसी भी राज्य-संस्था के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून उसी अंश तक प्रामाणिक है जिस अंश तक वह उसके तत्व को मानने को तैयार हो। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर-राष्ट्रीय क़ानून विशेष

राज्य-संस्थाओं द्वारा क़ानून मान लिया जाने पर सचमुच क़ानून बन जाता है। उसमें स्वतः कोई बाध्य करनेवाला बल नहीं है; उसको सत्ता इस बात से मिल जाती है कि व्यक्तिगत राज्य उसके प्रत्येक नियम को क़ानूनी विधि-निदेश के रूप में ग्रहण कर लेते हैं।

परन्तु ऐसे प्रबल निष्कर्ष को स्वीकार कर लेने से पहले उसके आधारों का परीक्षण कर लेना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से कई महत्वपूर्ण बातें उत्पन्न होती हैं। (१) कोई भी नई राज्य-संस्था, जब वह अस्तित्व में आती है, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के प्रतिष्ठित नियमों में से केवल कुछ को चुनकर पसन्द नहीं कर सकती। उसपर वे ठीक उसी प्रकार बाध्य होते हैं मानों वह उनके बनाने के लिए उत्तरदायी रही हो। अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजों, संधियों और पञ्चायतों के समझौतों के कारण बहुत से ऐसे सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त उत्पन्न होगए हैं कि जो राज्य-संस्थाओं के सामान्य पारस्परिक व्यवहार में उनके कार्यों को उसी प्रकार मर्यादित करते हैं जिस प्रकार इङ्गलैण्ड का क़ानून अपने नागरिकों के कार्यों को मर्यादित करता है। (२) राज्य-संस्था का सर्वोपरित्व एक ऐतिहासिक परिणाम है जिसका जन्म मध्ययुग के मध्ययुगी पोप-सत्ता (respublica christiana) के टूट जाने पर हुआ था। मोटे तौर पर, रिफॉरमेशन युग से पहले राज्य-संस्था की इच्छा सर्वोपरि स्वरूप की नहीं थी। वह ईश्वर के क़ानून और प्रकृति के क़ानून द्वारा स्वाभाविक रूप से मर्यादित मानी जाती थी; इनके सिद्धान्तों के विरुद्ध राज्य-संस्था का कोई भी विधान स्वभावतः मूल्य-हीन

होता था। आजकल हम उस अवस्था का दर्शन कर रहे हैं जो भूमण्डलीय संघ का पुनर्निर्माण कहा जा सकता है, जिसका स्वप्न मध्य-युग के विचारक देखा करते थे। हमने जान लिया है कि वैज्ञानिक और आर्थिक परिवर्तन के कारण सामान्य संसार-सम्बन्धी मामलों में व्यक्तिगत राज्य को अपना-अपना निर्णय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ना असम्भव होगया है। निर्णायक अवसरों पर ऐसे बंधन-रहित आत्मनिर्णय से युद्ध होजाता है: और जिस कारण अपने प्रदेश के अंदर राज्यसंस्था की इच्छा को अन्य सब सभा-संस्थाओं से प्रधानता मिली, उसी कारण राज्य-संस्थाओं के समाज में भी ऐसी सामान्य इच्छाशक्ति का होना, जो प्रत्येक विशेष राज्य-संस्था की इच्छा के ऊपर प्रधानता रखती हो, एक राजनैतिक आवश्यकता बन गई है। इसलिए परिणाम यह निकलता है कि जिस प्रकार व्यक्तिगत इच्छा राज्य-संस्था के निश्चित किये हुए क़ानूनी विधि-निदेशों के अधीन है, ठीक इसी प्रकार संसार-सम्बन्धी सामान्य मामलों में राज्य-संस्था की इच्छा भी एक प्रधान इच्छाशक्ति के अधीन होनी चाहिए।

यही बात, सम्भवतः, सर्वोत्तम रीति से इस प्रकार प्रकट की जा सकती है। सन् १५०० और १७०० के बीच में आधुनिक राज्य-संस्था इसलिए सर्वोपरि बन गई कि इसके अतिरिक्त अन्य किसी ढंग से उसके नागरिकों के जीवनों को शान्ति और सुरक्षितता निश्चित रूप से न दी जा सकती थी। इसके कार्यों का तत्वज्ञान ढूँढ़नेवाले विचारकों को इसमें सबसे मुख्य बात जो

दिखाई दी वह यह थी कि इसने अपनी इच्छाशक्ति को सब बाह्य नियंत्रणों से स्वतंत्र कर लिया था। इसलिए स्वभावतः उन्होंने यह मान लिया कि राज्य-संस्था ही सामाजिक संगठन का अंतिम घटक है। परन्तु, परिस्थिति, विशेषतः पिछली अर्ध-शताब्दि में, पुनः बदल गई है। संसार इतना परस्पराधीन होगया है कि किसी भी राज्य-संस्था में अनियंत्रित इच्छाशक्ति का होना अन्य राज्य-संस्थाओं की शान्ति के लिए घातक है। यदि हम इंग्लैण्ड को, अपनी राज्य-सीमाओं और सैनिक शक्ति, अपनी आयात-निर्यात कर-पद्धति, और श्रमपद्धति, अपने न्यायालयों में विदेशियों को दिये जानेवाले अधिकार, इतर राज्यों से होनेवाले झगड़ों का निर्णय करने की विधि आदि बातों का स्वयं ही निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दें, तो अनिवार्य परिणाम होगा अन्तर्राष्ट्रीय विपत्ति। राज्य-संस्थाओं की परस्पराधीनता के कारण, एक ऐसा भूमंडलीय समाज, राज्य-संस्थाओं का समाज, मानने की आवश्यकता है, जिसके अपने ही पृथक् क़ानूनी विधि-निदेश हों और उनके सामने अन्य सब नियमों को झुकना पड़े। थोड़े में कह सकते हैं कि आधुनिक परिस्थितियों के कारण सामान्य सम्बंध के मामलों के लिए संसार-व्यापी क़ानून निर्माण शक्ति को मानना भी उतना ही स्पष्टतया आवश्यक होजाता है जितना कि राज्य-संस्था के प्रदेश के अन्दर उसके प्रभुत्व को मानना। संक्षेपतः, क़ानून की दृष्टि से म्युनिसिपल क़ानून अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अधीन है।

इसलिए, इस प्रतिज्ञा को लेकर कि क़ानून का मूल उद्गम राज्य-संस्थाओं के समाज की इच्छाशक्ति है, और आधुनिक सभ्यता में यह इच्छाशक्ति अन्य सब इच्छा-शक्तियों के ऊपर प्रधान है, क़ानून सम्बन्धी व्याख्या बनाई जा सकती है। ऐसी प्रतिज्ञा के अनुसार, राज्य-संस्थाओं के समाज से किसी विशेष राज्य-संस्था का सम्बन्ध अधीनता का सम्बंध है; यह वैसा ही है जैसा कि अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र से न्यूयार्क का है। कुछ ऐसे विषय हैं जिनपर न्यूयार्क स्वयं अपना क़ानून बना सकता है; और कुछ अन्य ऐसे विषय हैं जिनपर उसे संयुक्तराष्ट्र का निर्णय मानना पड़ेगा। इस दृष्टि के अनुसार राज्य-संस्था सर्वोपरि नहीं रहती। वह जिन संसार-व्यापी परिस्थितियों में स्वयं परिगृहीत है उनके निष्कर्षों को उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। उसकी बंधन-रहित स्वच्छन्दता की माँग स्वीकार करना उतना ही असम्भव है जितना कि व्यक्तिगत नागरिक की नियंत्रण-रहित इच्छा रखने के क़ानूनी अधिकार की माँग को मान लेना। सामान्य आवश्यकतायें होने का अर्थ है पारस्परिक अधीनता होना, और जहाँ पारस्परिक अधीनता है वहाँ, ऐतिहासिक या पारिभाषिक भाव में, सर्वोपरि राज्य-संस्था का होना असम्भव है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण में इन संदेहरहित बातों से भी कोई दोष नहीं आता कि (क) राज्य-संस्थायें क़ानून को तोड़ देती हैं, और (ख) राज्य-संस्थाओं के समाज ने अभीतक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की वृद्धि के लिए कोई भी संतोषजनक साधन, विशेषतः व्यवस्था-

पन्न क्षेत्र में, विकसित नहीं किये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का किसी विशेष व्यक्ति द्वारा भंग होना उतना ही महत्व-पूर्ण या महत्व-शून्य है जितना कि म्युनिसिपल क़ानून का किसी विशेष व्यक्ति द्वारा भंग होना; जबतक क़ानून सामान्यतः और प्रवृत्तितः बल-पूर्वक लागू किये जाने योग्य होता है तबतक वह क़ानून रहता है। यह हम मान सकते हैं कि राज्य-संस्थाओं के समाज की संस्थायें अभीतक इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए अनुपयुक्त हैं। इसके दो उपयुक्त कारण हैं। प्रथमतः तो, अन्तर्राष्ट्रीय परस्पराधीनता के सिद्धान्त की मान्यता अपेक्षाकृत नई है; इस सिद्धान्त की यथा-रीत्या मान्यता १६१६ की वार्सेलीज़ के संधिपत्र से पहले की प्रायः नहीं कही जा सकती। द्वितीयतः, इस परस्पराधीनता के लिए उपयुक्त संस्थायें बनाने के प्रत्येक प्रयत्न का सर्वोपरि राज्य-संस्था के द्वारा विरोध हुआ है, जो अभीतक अपने आधिपत्य के खण्ड-हरों को अपने ही हाथ में बनाये रखने का उत्कट प्रयत्न कर रही है। उदाहरणतः, राष्ट्रसंघ का इतिहास, सिवाय इसके और कुछ नहीं है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय परस्पराधीनता के नये सिद्धान्त तथा उसके परिणामों के साथ सर्वोपरित्व के पुराने सिद्धान्त के सङ्घर्ष का लेख-प्रमाण हो। इस पुराने सिद्धान्त को मानने की इच्छा के परिणाम-स्वरूप ही राष्ट्रसङ्घ में एकमत से निर्णय करने का नियम है जो राष्ट्रसङ्घ की सफलता को बहुत-कुछ नष्ट करता है; अन्तर्राष्ट्रीय परस्पराधीनता के परिणामों को स्वीकार करने की आवश्यकता के फलस्वरूप ही 'विकल्प' (ऑप्शन) सम्बन्धी धारा,

सामान्यतः पंचायत द्वारा झगड़े निवटाने का एक्ट, और लोकार्नो की जैसी परस्पर अभिवचन देनेवाली संधियाँ हुई हैं और इन सब से सर्वोपरित्व के सिद्धान्त पर निश्चित और सुस्पष्ट आघात हुआ है; क्योंकि इन तीनों का अर्थ है कि जिन राज्य-संस्थाओं ने उनको स्वीकार कर लिया है, वह वास्तव में, अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतंत्र नहीं हैं। इसी प्रकार शासन-निदेशों (मेण्डेट्स) के सिद्धान्त तथा राष्ट्रसङ्घ के कुछ सदस्य-राज्यों की अल्पसंख्यक जातियों को प्रतिज्ञात किये हुए अधिकारों द्वारा यह बात मान ली गई है कि राज्य-संस्था की स्वाधीनता के दिन निश्चित रूप से बीत चुके हैं। हम आधुनिक राज्य-संस्थाओं में, उनको सामान्य श्रेष्ठ संस्था के अधीन किये बिना परस्पर आवश्यक सहयोग प्राप्त नहीं कर सकते। और, इस अधीनता का परिणाम यह है कि इस श्रेष्ठ संस्था के बनाये हुए क़ानूनी विधि-निदेश उनको अमान्य कर सकनेवाली सब इच्छाशक्तियों पर प्रधानता रखते हैं।

ऐसी स्थिति में कुछ प्रतिष्ठित विचारकों ने इसका पुराने दृष्टि-कोण से दो प्रकार से सामञ्जस्य करना चाहा है। एक ओर तो वे यह कहने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून तो राष्ट्रीय क़ानून ही है, क्योंकि वह व्यक्तिगत राज्य-संस्थाओं द्वारा स्वीकृत होजाने पर ही लागू हो सकता है; और दूसरी ओर उनका यह कहना होगया है कि जहाँतक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून सचमुच क़ानून है वहाँतक वह स्वतः एक पूर्ण व्यवस्था है, जो व्यक्तिगत राज्यों की इच्छा-शक्ति से स्वतन्त्र है और उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

परन्तु यह दोनों दृष्टिकोण संतोषजनक नहीं हैं। प्रथम विचार के दो उत्तर दिये जा सकते हैं। प्रत्यक्षतः, राज्य-संस्थायें अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को इसलिए स्वीकार नहीं करतीं कि वे उन्हें स्वेच्छा से पसन्द करती हैं, परन्तु इसलिए कि वास्तव में उनके पास दूसरा चारा नहीं है, और स्वीकृत-सिद्धान्त को, जो वास्तव में अधिकांश काल्पनिक है, क़ायम रखने में कोई लाभ नहीं है। और कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून सम्भवतः तबतक काम में नहीं आ सकता जबतक कि उसके प्रजाजन उसका लागू किया जाना स्वीकार न करें; परन्तु यह बात तो स्वयं राज्य-संस्था के क़ानून के विषय में भी सत्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायविज्ञान की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के क़ानूनी स्वरूप को उसके लागू किये जा सकने की सफलता पर निर्भर बताना, उसपर प्रामाणिकता सम्बन्धी वह कसौटी लगाना है जिन्हें कोई भी न्याय-विज्ञान-विशारद राष्ट्रीय क़ानून पर स्वप्न में भी नहीं लगाता। न्याय-विज्ञान-विशारद के ही माने हुए सिद्धान्तों के अनुसार क़ानूनीपन के लिए इतना ही आवश्यक है कि उसके उद्‌गमस्थान को इतनी अधिकार-शक्ति होनी चाहिए कि वह सम्बन्धित नियमों को बना सके। उसके लिए क़ानूनीपन शुद्ध अधिकार-शक्ति का प्रश्न है; और उसे अन्य-कारणाश्रित कसौटियों के आधारों को त्यागना पड़ता है। और, यह विचार भी कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून राष्ट्रीय क़ानून से स्वतन्त्र एक स्वावलम्बी व्यवस्था है, अधिक सन्तोषजनक नहीं है। क्योंकि, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का सारा प्रयोजन परिभाषा के अनुसार,

राज्यों में, रहनेवाले, नागरिकों के आचरण-व्यवहार को नियन्त्रित करना है। वह राज्य-संस्थाओं की इच्छा-शक्ति को अपने उद्देश्यों के लिए बाधित किये बिना अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। राज्य-संस्थाओं की इच्छा-शक्ति को बाधित करने के लिए राज्य-संस्था की इच्छाशक्ति से उसकी स्वाभाविक श्रेष्ठता का होना अनिवार्य है; और हमें यह मानना पड़ता है कि म्युनिसिपल क़ानून उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है जिनपर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून है।

एक और युक्ति पर, जो अन्तिम है,विचार करना भी आवश्यक है। कहा जाता है कि राज्य-संस्था को क़ानूनी व्यवस्था मानना तो सरल है क्योंकि उसमें तो ऐसे मनुष्यों का समुदाय प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिनको उसके नागरिकों पर उसके क़ानूनी विधि-निदेशों को लागू करने का अधिकार, अपनी स्थिति के कारण, होता है; परन्तु राज्य-संस्थाओं के समाज में क़ानून को लागू करवानेवाली शक्ति इतनी स्पष्ट दिखाई नहीं देती। यदि उसका एक भी नियम भङ्ग किया जाता है तो ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसपर क़ानून-भङ्ग के दण्ड का प्रयोग करने का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व हो। परन्तु, इस आलोचना को घातक मान लेने से पहले, इसके अभिप्रायार्थ का समझ लेना आवश्यक है। इसमें यह माना गया है कि क़ानून राज्य-संस्था के ऐसे अङ्ग द्वारा निर्मित होता है जिसके पास आवश्यक होने पर दण्ड का प्रयोग करने की शक्ति होती है। वास्तव में, इसका अर्थ है हॉब्स और ऑस्टिन से आई हुई सर्वोपरित्व सम्बंधी प्रसिद्ध व्याख्या को ज्यों-का-त्यों मान लेना; और जैसा कि

हम देख चुके हैं वह व्याख्या आधुनिक समाज की जटिल परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं होती। हमें ऐसी सामान्य श्रेष्ठ शक्ति को, जिसकी इच्छा से सारा क़ानून बनाया जाता है, ढूँढने की अपेक्षा सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न विभागों के लिए आवश्यक क़ानून बनाने के लिए उपयुक्त संस्थायें प्राप्त करने की चिन्ता अधिक है, हमें कर्तृत्वों के एकीकरण में नहीं किन्तु विभाजन में मुख्य रुचि है। इतना ही नहीं। हम यह भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अनेक नियम राज्य-संस्था के साधारण न्यायालयों द्वारा सामान्यतया और स्वाभाविकतया प्रयोग में लाये जाते हैं, और जमोरा (zamora).* में लार्ड पार्कर का प्रसिद्ध निर्णय बताता है कि न्यायालय इस दिशा में किस हदतक जाने को तैयार हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय नियम आजकल केवल स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ही प्रयुक्त नहीं होते, प्रत्युत इस न्यायालय के निर्णयों से इसी प्रकार के मामलों से सम्बन्ध रखने वाली सब संस्थाओं के कार्य का स्वरूप अधिकाधिक निर्मित होता जाता है।

इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि, यद्यपि राष्ट्र-संघ अभी अपूर्ण है तथापि वह पालन कराने की शक्ति के विचार का एक संस्था के स्वरूप में व्यक्तरूप है। यह संघ वास्तव में जितने दीर्घकाल तक कार्य करेगा, उतना ही दृढ़ रूप इस विचार को प्रदान करेगा। जो इक़रारनामा (कवेनेण्ट) युद्ध की प्रारब्धि को

---

*(1916) 2 A.C. 93.

रोकने के विचार से उत्पन्न हुआ था, ताकि बीच के समय में युद्ध प्रारम्भ करनेवाले को चिन्तन का अवसर मिल सके जिससे उनके बीच सफलतापूर्वक बीच-बचाव हो सके, वह अब इस भावना की ओर अधिकाधिक बढ़ता जाता है कि आक्रमणात्मक कार्य की परिभाषा की जा सकती है, और जो राज्य-संस्था आक्रमण के लिए उत्तरदायी समझी जायगी, उसके प्रति राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों की शत्रुता हो जायगी। वास्तव में किसी-न-किसी रूप में सम्मिलित (सामूहिक) पालन कराने की शक्ति का विचार उत्पन्न होगया है; विवादास्पद प्रश्न तो केवल यह रह गया है कि पालन-कारयित्री शक्ति अधिक-से-अधिक व्यावहारिक रूप क्या ग्रहण कर सकती है। इसके अतिरिक्त इक़रारनामे (कवेनेण्ट) में, प्रत्येक पद पर, सामूहिक उत्तरदायित्व के रूप भी हैं, जो हर जगह अङ्कुरावस्था में ही नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्र-संघ की कौंसिल अब भी, यद्यपि मन्त्रि-मण्डल की भांति तो नहीं, तथापि कम-से-कम एक ऐसी संस्था की भांति तो कार्य कर रही है जो निदेश (आर्डिनेन्स) बनानेवाली संस्था से बहुत समानता रखती है; और लोकमत पर राष्ट्र-संघ की एसेम्बली का परिणाम बड़ा प्रभावकारी है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य भी बड़ा प्रभावकारी है। यद्यपि राष्ट्र-संघ को युद्ध के पश्चाद्वर्ती परिणामों से बहुत बाधा हुई है, तथापि उसके विषय में इतना तो कहा ही जा सकता है कि संसार की जातियाँ व्यक्तिगत राज्य-संस्थाओं के अत्याचारों को सीमित और नियन्त्रित करने के लिए उसके मुख की ओर देखती

हैं। उसकी सामाजिक और वैज्ञानिक सेवा के विषय में तो प्रत्येक व्यक्ति न्यायपूर्णता के साथ कह सकता है कि यदि वह कार्य न किया जाता तो संसार आज की अपेक्षा हीन और कुरूप स्थान रहा होता; और यदि वह बन्द होजाय तो उसका पुनः आविष्कार करना पड़े। राष्ट्र-संघ को साहस-हीनता और संशयालुता से बहुत हानि उठानी पड़ी है। उसको रूस और संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) के अलग रहने से भी बहुत हानि हुई है। और सम्भवतया उसे सबसे अधिक हानि अपनी ही कार्य-पद्धति सम्बंधी त्रुटियों के कारण हुई है जिनके द्वारा राज्य-संस्थाओं की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु उसकी त्रुटियों और बाधाओं के रहते हुए भी, वह महत्वपूर्ण है और इस प्रकार के सङ्गठन के होने की आवश्यकता है, इन दोनों बातों में संशय होना कठिन है। उसके इतिहास के प्रथम दस वर्षों के अनुभव से यह स्पष्टतया प्रकट है कि वह राजनैतिक संस्थाओं के इतिहास में एक निर्णायक अवस्था को व्यक्त करता है।

२

क्योंकि, राष्ट्र-सङ्घ को या तो आगे बढ़ना पड़ेगा या नष्ट हो जाना पड़ेगा। वह व्यक्तिगत राज्य-संस्थाओं के अधिकारों का निरन्तर नियन्त्रण करके ही आगे बढ़ सकता है। वास्तव में उसके सफल विकास का अर्थ यह है कि अधिकाधिक विस्तीर्यमाण क्षेत्र में ऐसी शक्ति व्यक्त होनी चाहिए, जो उस विषय को सीमित करे जिसमें राज्य-संस्थायें स्वयं क़ानून बनाने का अधिकार रखती हैं।

राष्ट्र-सङ्घ अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सम्बन्ध के सब विषयों में राज्य-संस्थाओं के लिए व्यावहार-विधियाँ बनाने की सत्ता ग्रहण करेगा। इन विषयों में से, कम-से-कम, कुछ तो स्वयं स्पष्ट हैं। युद्ध करने का अधिकार, राज्य-सीमाओं का निर्धारण, युद्ध-शक्ति की सीमा, आयात-निर्यात-कर तथा देशान्तर-निवास, पिछड़ी हुई जातियों की रक्षा, यह सब ऐसे विषय हैं जिनपर व्यक्तिगत राज्य-संस्था अधिक समय तक अन्तिम अधिकार-शक्ति नहीं रख सकती। और किसी भी तरह से यह बात कम महत्वपूर्ण नहीं है कि राष्ट्र-सङ्घ की सदस्य-राज्य-संस्थाओं को अपने आपस की सन्धियों को, यदि वे उन्हें परिणामकारी बनानी चाहती हैं, जेनेवा में रजिस्टर्ड करवाना आवश्यक है। न्यायपूर्णता के साथ कहा जा सकता है कि हम ऐसे काल के समीप पहुँच रहे हैं कि, यदि सन्धियों को अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अनुसार मान्यता प्राप्त करनी है, तो उन्हें राष्ट्र-सङ्घ द्वारा अनुमोदित होना आवश्यक होगा।

परन्तु यह कहना केवल काल्पनिक नहीं है कि ये सब बातें, उस विकास के पर्यवसान नहीं, केवल प्रारम्भिक रूप हैं, जिसे निःसन्देह दीर्घकालीन प्रयास के बाद हम निश्चित रूप से देखेंगे। उद्योग-धंधों में विज्ञान की वृद्धि के तीन परिणाम हुए हैं। (क) उत्पत्ति की शक्ति क्रयशक्ति के विषम विभाजन के कारण, उपभोग की शक्ति का अत्यधिक अतिक्रमण कर चुकी है। परिणाम यह हुआ है कि आधुनिक यंत्र-सामग्री सेसुसज्जित राज्य-संस्थायें निर्यात के लिए बाज़ार ढूँढ़ने की उत्कट प्रतियोगता में प्रवेश

कर रही हैं, और उन्हें निम्न जीवन-कोटि रखनेवाली राज्य-संस्थाओं के मुक़ाबिले में अपनी जीवनकोटि की रक्षा करनी पड़ती है। इस अवस्था का, कभी-न-कभी, अनिवार्य परिणाम यह होगा कि कच्चे माल, बाज़ारों में विक्रय के तरीक़ों और श्रम-सम्बन्धी नियमों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण हो जायगा। क्योंकि, राष्ट्र-सङ्घ जैसी संस्था जो युद्ध के निवारण के लिए है, अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए युक्तितः युद्ध के मूलभूत कारणों के (जो प्रधानतः आर्थिक हैं) सम्बन्ध में भी कार्यवाही करने की आवश्यकता को नहीं टाल सकती। निश्चय ही उसे आगे बढ़ना पड़ेगा। आधुनिक संसार में अन्य कोई अकेला कारण इतनी अस्त-व्यस्तता नहीं फैलाता, जितनी व्यक्तिगत राज्य-संस्था का अपनी मुद्रा-सम्बन्धी प्रणाली को आप ही नियन्त्रित करने का अधिकार। वाशिङ्गटन में मुद्रा की अत्यधिक रोक होजाने से संसार-भर की क़ीमतों में भयङ्कर गिरावट हो सकती है; पेरिस में बेहिसाब स्वर्ण-संग्रह हो जाने से जापान और दक्षिणी अमेरिका में बेकारी फैल सकती है। यह निष्कर्ष निकालना तो सामान्य विवेक की बात है कि बेसल का इण्टर-नेशनल सेटलमेण्ट्स बैङ्क भी एक ऐसी केन्द्रीय मुद्रा-व्यवस्था का सूत्रपात है, जिसके लिए राज्य-संस्थायें उसी प्रकार अधीनस्थ घटक होंगे, जिस प्रकार इङ्गलैण्ड के ज्वाइण्ट-स्टाक-बैङ्क बैङ्क-आव्-इङ्गलैण्ड के अधीन हैं। अन्यथा, स्पष्टतः, आधुनिक द्रव्य-सम्बन्धी परस्पराधीनता का यही परिणाम होगा कि किसी एक भी राज्य-संस्था की ग़लतियों और मूर्खताओं के कारण इस

प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, कि वह चाहे स्पष्ट दिखाई न दे, पर उसके परिणाम १६१४ के युद्ध से कम भयङ्कर न होंगे।

इसके अतिरिक्त इसके विकास की एक नई दिशा की भी कल्पना की जा सकती है। अभीतक, और ऐतिहासिक परिस्थितियों की दृष्टि में पूर्ण स्पष्टतया, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों ने व्यक्तियों के, जिन्हें अपने अधिकारों की रक्षा प्राप्त करने का स्वतः हक़ है, अधिकारों के विषय में कुछ भी नहीं किया है। अभीतक जब-जब विदेशियों को किसी भिन्न-देशीय राज्य-संस्था द्वारा कष्ट पहुँचा, तब-तब उन्हें उसके प्रतिकार के लिए अपनी ही राज्य-संस्था के मुख की ओर देखना पड़ा; और उस राज्य-संस्था को न्याय प्राप्त करने में उन्हें सहायता देने के लिए बाध्य करने के कोई साधन न थे। जहाँ-जहाँ किसी नागरिक के साथ उसीकी राज्य-संस्था ने दुर्व्यवहार किया है, वहाँ-वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून ने यह माना है कि वह मामला आन्तरिक-शासन का है और उसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर है। कहा गया है कि राज्य-संस्था सर्वोपरि-सत्तात्मक संस्था है, इसलिए इस क्षेत्र में किसी को अधिकार नहीं है कि उसने जिन निर्णयों को करना उचित समझा उनपर आपत्ति उठावे।

तथापि, यह असम्भव नहीं है कि इन मामलों में हम एक नये युग के प्रारम्भ काल में हों। कोई सैद्धान्तिक कारण ऐसा नहीं है, कि, उचित जाब्ता रखते हुए, क्यों किसी विदेशी को भिन्न देशीय

राज्य-संस्था द्वारा दुर्व्यवहार किया जाने पर स्थायी अन्तराष्ट्रीय न्यायालय जैसी संस्था में न्याय प्राप्त करने का अधिकार न हो। निःसन्देह, उसे न केवल अपने अभियोग को ही सिद्ध करना चाहिए, वल्कि यह भी बताना चाहिए कि अपनी रक्षा के जो उपाय दोषी राज्य ने स्वयं प्रस्तुत कर रक्खे हैं उन सबको भी उसने निःशेष कर दिया है। इसी प्रकार, इसका भी कोई कारण नहीं है, कि, क्यों, उचित परिस्थितियों में, किसी विशेष राज्य-संस्था का नागरिक, जो उन अधिकारों से वञ्चित किया गया हो जिनकी रक्षा के लिए वह राज्य-संस्था अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून द्वारा प्रतिज्ञा-वद्ध है, दोषी राज्य-संस्था पर उसके दुर्व्यवहार के लिए अन्त-र्राष्ट्रीय न्यायालय में दावा न कर सके। उदाहरणतः १९१९ के सन्धि-पत्रों के अनुसार, यहूदियों को भेद-भाव करनेवाले क़ानूनों से रक्षा का अभिवचन दिया गया है; इसका कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं है कि क्यों रूमानिया या हङ्गेरी के किसी यहूदी को जो यह सिद्ध कर सकता हो कि उसकी शिक्षा-सम्वन्धी सुविधाओं को रोकने के लिए क़ानून वनाया गया है, और उससे उसे विशेष हानि होती है, न्यायालयों द्वारा रक्षा पानेकी स्वतन्त्रता न हो। इस विचार को कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का अस्तित्व व्यक्ति के संरक्षण के लिए ही है, हम जितना वढ़ा सकेंगे, उतना ही व्यापक उसका वाध्यता-सम्वन्धी वल होगा। हमारे सामने जो वास्तविक-तायें हैं, उनकी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड-क़ानून का होना एक अविलम्व्य आवश्यकता है; और अन्तराष्ट्रीय सङ्गठन जितना-

जितना विकसित होगा, उसकी आवश्यकता भी उतनी-उतनी ही अविलम्ब्य होगी। जिस प्रकार राज्य-संस्था अपने राष्ट्रीय दोषों के लिए अपने न्यायालयों में उत्तरदायी होती है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसका उत्तरदायित्व जितना अधिक होगा, उसका कार्य भी उतना ही अधिक आदरणीय होगा।

इस विश्लेषण के परिणामों पर विचार करना भी उचित होगा। सौ वर्ष पूर्व, ऑस्टिन के लिए क़ानून का विवेचन राज्य-संस्था तक सीमित कर देना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि मध्य-युगी विचारक के लिए उसपर विश्व-सम्बन्धी दृष्टि के अतिरिक्त अन्य दृष्टि से विचार करना असम्भव था। ऑस्टिन के संसार में राज्य-संस्था ही संस्थाओं के विकास की अन्तिम सीढ़ी प्रतीत होती थी; प्रतिद्वन्द्विता ही उस संसार का नियम था, और उस प्रतिद्वन्द्विता का आधार अठारहवीं शताब्दि के कल्याणकारी आशावाद के फलस्वरूप आया हुआ यह विचार था, कि यदि हम प्रकृति की स्वच्छन्द इच्छा पर विश्वास करें तो वह अन्त में सब बातों को ठीक कर देती है। यह वही आशावाद है जो एडेमस्मिथ के "अदृश्य हाथ" में; बैन्थेम के इस उग्रवाद में कि सामाजिक बुराइयों की अन्तिम औषधि इक़रार की स्वतन्त्रता है; और हेगेल की इस शिक्षा में कि ऐतिहासिक विकास अधिकाधिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति को प्रकट करता है, दिखाई देता है।

परन्तु हमारा संसार भिन्न संसार है। आज हमें जो बात स्पष्टतया दिखाई देती है वह राष्ट्रों की पृथकता नहीं किन्तु

अन्तर्राष्ट्रीय अधीनता, प्रतिद्वन्द्विता का महत्व नहीं किन्तु सहयोग की आवश्यकता है। हमने यह जान लिया है कि यदि राज्य-संस्था को अन्य राज्य-संस्थाओं से शान्तिपूर्ण और सुसम्बद्ध सम्पर्क रखना आवश्यक है, तो वह स्वाश्रयी जीवन व्यतीत नहीं कर सकती, जैसा कि अरस्तू का विचार था; वह बृहत्तर समाज का, जिसकी आवश्यकताएँ उसके जीवन के प्रत्येक पहलू में ओतप्रोत हैं, एक भाग है। हमें यह मालूम होगया है कि जबतक परस्पर सौदा करने की शक्ति की समानता न हो, तबतक व्यक्ति को इक़रार की स्वतन्त्रता देना अर्थहीन है। वास्तव में, सर्वोपरि राज्य-संस्था का आदर्श उतना ही भयङ्कर होगया है जितना कि अपनी राज्य-संस्था के विरुद्ध खड़े होनेवाले सर्वतः-पृथक् व्यक्तियों का पुराना आदर्श। हमें समाज के सम्बन्ध में एक ऐसी प्रयोजन-परक व्याख्या निर्माण करनी है जिसमें शक्ति का सङ्गठन इसलिए हो कि हमारे सुख की अवस्थायें (सामग्री) उपलब्ध होजायँ। यह विचार कि यह शक्ति समाज के किसी भाग की अनियन्त्रित इच्छा-शक्ति के हाथ में छोड़ी जा सकती है, उत्तम जीवन का विरोधी सिद्ध हुआ है। हमारे संसार में राज्य-संस्था की सर्वोपरि सत्ता उतनी ही निकम्मी होगई है जितनी कि तीनसौ वर्ष पूर्व रोमन चर्च की सर्वोपरि-सत्ता होगई थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि हम राज्यों के परस्पर सम्पर्कों के क्षेत्र को असङ्गठित नहीं छोड़ सकते; और ज्योंही हम उसका सङ्गठन करने लगते हैं त्योंही यह स्पष्ट होजाता है कि राज्य-संस्था

की सर्वोपरि सत्ता के होने का अर्थ अराजकता है। उसे स्थानीय सम्बन्ध के मामलों पर नियन्त्रण करने का तो अधिकार है; परन्तु जिन मामलों से अन्य राज्य-संस्थाओं का सम्बन्ध है उनमें एकाधिकार कर लेने की उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। इसलिए, हमारे मतानुसार, राजनीति की समस्याओं का स्वाभाविक हल इसी प्रकार हो सकता है कि राज्य-संस्था को बृहत्तर समाज के एक प्रान्त की दृष्टि से देखा जावे; और इसलिए इस वात पर जोर दिया जावे कि उसके नियम आवश्यक रूप से वाहर के व्यापक हितों की अधीनता द्वारा सीमित हैं। इस वात में तो हम सहमत हो सकते हैं कि बृहत्तर समाज का सङ्गठन करना और जिस क्षेत्र पर उसका नियन्त्रण रहेगा उसके उपयुक्त संस्थाओं का आविष्कार करना वड़ा भारी काम है। परन्तु उस प्रयत्न की सफलता उसी दृष्टि से ध्यान-पूर्वक विचार करने से जितनी हो सकती है उतनी और किसी प्रकार नहीं हो सकती। जितना अधिक हम इस वात का अनुभव करेंगे कि राज्य-संस्था का सर्वोपरि रूप एक ऐसी ऐतिहासिक अवस्था थी जो अव निकम्मी होचुकी है; उतना ही अधिक हम अपनी परिस्थितियों के उपयुक्त होनेवाले न्याय-विज्ञान की विचार-दृष्टि प्राप्त करते जायँगे। नया संसार पुराने संसार के वर्गीकरण से उचित-रीत्या रहने की आशा नहीं कर सकता।

दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन करने का हमारा प्रयत्न निष्फल होजाय। जिन संस्थाओं ने सत्ता प्राप्त कर ली है वह अपने अधिकार को सरलता से नहीं त्यागतीं। जो राज्य-

सेना भयङ्कर बलशाली रही है वह प्रसन्नता से वश में नहीं आ सकती। जो कोई हमारे सामने उपस्थित होनेवाले सङ्घर्षों की सम्भावनाओं, आर्थिक विरोधों, जातिगत विद्वेषों, राष्ट्रीय और धार्मिक ईर्षाओं को देखकर यह विचार करे कि शान्ति की सम्भावना बहुत ही थोड़ी है, तो उसका ऐसा करना क्षम्य है। हम निःशस्त्रीकरण के आदर्श का मौखिक समर्थन करते हैं, परन्तु गम्भीरतापूर्वक निःशस्त्रीकरण नहीं करते। हम संरक्षकता (ट्रस्टीपन) के सिद्धान्त की प्रशंसा करते हैं; परन्तु हमसे जहाँतक बन सकता है वहाँतक हम अपने शासन-निदेशों (मेण्डेट्स) को पुराने औपनिवेशिक सिद्धान्तों के अनुसार ही सञ्चालित करते हैं। आर्थिक राष्ट्रीयता की पुनरावृत्ति होना हमारे युग की सबसे घातक विशेषता है। रूस, उदीयमान पूर्व, उन अल्प-संख्यक समुदायों की तीव्र राष्ट्रीयता जिनके स्वाभिमान को विदेशी राज्यों के अन्तर्गत होने से हानि पहुँचती है, अमेरिका के बृहदुत्पत्ति सम्बन्धी नवीन औद्योगिक विज्ञान के फल-स्वरूप उत्पन्न होनेवाला सर्वग्राही साम्राज्यवाद, यह सब कारण हमें इस परिणाम पर पहुँचने से रोकते हैं कि प्रगति ही सृष्टि का अनिवार्य नियम है। स्वतन्त्रता और सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकते, यदि हम उनके लिए प्रयत्न न करें; और, यदि हम शान्ति के लिए प्रयत्न न करें तो भी स्वतन्त्रता और सुख प्राप्त नहीं हो सकते। हमें यह जानना होगा कि शान्ति प्राप्त करना एक आनन्दप्रद साहसी कार्य है, जिसमें उतने ही महत्वपूर्ण बलिदान करने पड़ेंगे और उतने ही बड़े खतरे उठाने पड़ेंगे जितने कि युद्धों

में उठाने पड़े हैं। हमें उसका उचित मूल्य चुकाने के लिए इच्छुक होकर उसे प्राप्त करने के अपने अधिकार को सिद्ध करना होगा।

इसका निश्चित विश्वास किसी को नहीं हो सकता कि हम सफल ही होंगे। यदि हम अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग जानते भी हैं, तो भी हम उसपर चलने के कष्टों से डरते हैं; इसके अतिरिक्त ऐसे मनुष्य भी थोड़े नहीं हैं, और वे अधिकांश शक्तिशाली मनुष्य हैं; जो उस लक्ष्य का तीव्र निराकरण करते हैं। उसको प्राप्त करने के लिए, राज्य-संस्था को अपने आपको झुकाना पड़ेगा, और धनिकों को वलिदान करना पड़ेगा। यदि हम न्याय-पूर्ण न हों तो, हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते; और न्याय-पूर्णता का मूल्य है समानता। ऐसी कल्पना करने के लिए हमारे पास कोई स्वाभाविक कारण नहीं है, कि जो लोग शक्ति रखते हैं और उसका उपभोग करते हैं, वे, जिन आदर्शों को नहीं मानते उनके लिए उसका त्याग कर देंगे। यदि वे अपनी सत्ता की रक्षा के लिए लड़ें, तो उन्हें सफलता की थोड़ी वहुत आशा है ही। यदि वे विजय पाते हैं तो, जैसा कि इटैली का आधुनिक इतिहास वताता है, वे भीतर निरङ्कुशता स्थापित करते हैं और वाहर अराजकता की सम्भावना उत्पन्न करते हैं,और यदि उनकी पराजय होती है तो भी, जैसाकि रूस का इतिहास वताता है, परिणाम भिन्न नहीं होता। शान्ति की विजय शान्ति की गहरी और व्यापक इच्छा पर निर्भर है, और वह इच्छा तवतक न गहरी हो सकती है और न व्यापक, जवतक कि उसके परिणामों में रुचि इतनी भिन्न-भिन्न है। न्याय-परायणता के लिए

बलिदान करने की भावना अभी मानव-जाति की मानसिक प्रवृत्ति नहीं बनी है। जहाँ हमारा मतभेद होता है, वहाँ प्रसन्नता-पूर्वक सहिष्णुता रखना भी हमने नहीं सीखा है। हमारे सङ्घर्षों में अभी तक मत-मतान्तर सम्बन्धी युद्धों की सारी कटुता विद्यमान है, केवल मतों का तत्व बदल गया है।

वास्तव में हमारी जैसी पीढ़ी को, जिसके पैर गहरी खन्दक के इतने समीप हैं, अपने भविष्य के विषय में आशावादी होने का अधिकार नहीं है; यह बात, कि, वह मार्ग जानती है, इस बात का कि, वह मार्ग पर चलना पसन्द करेगी, प्रमाण नहीं है। परन्तु विचित्रता यह है कि इसी बात में हमारी सबसे बड़ी आशा निहित है। हमें अपने-आप के विषय में इतनी आशङ्कायें हैं कि हमें नवीन-नवीन प्रयोगों को करना पड़ता है। हमने दुःखान्त अनुभवों से यह शिक्षा ग्रहण की है कि उच्च प्रवृत्तियाँ भी अ-स्थायी हैं; सम्भवतः हमने यह भी जान लिया होगा कि उनकी शक्ति के पुनः परीक्षण करने में खतरा है। सम्भव है, केवल इस बात का ज्ञान कि यदि बड़े परिमाण में कोई और सङ्घर्ष होजाय तो हमारी सभ्यता की देन स्मरण-मात्र के लिए भी न रहेगी, हमारे स्वभाव में ऐसा परिवर्तन उत्पन्न कर दे कि जिससे न्याय-पूर्णता केवल सार-हीन आदर्श ही न रहे। इतना होते हुए भी उत्तम जीवन बनाने में सबकी सामान्य रुचि हो सकती है, और सम्भव है कि उसको बनाने की कठिनाई ही उसकी सुन्दरता की प्राप्ति करा दे।

पुस्तकों के विषय में सूचना

राज-नीति के अध्ययन करने का सबसे अच्छा मार्ग इसकी उत्तमोत्तम पुस्तकों को ध्यान-पूर्वक पढ़ना है। यदि ऐसी पुस्तकों की कोई सूची यहाँ दी जाय तो वह बहुत अधिक स्थान ले लेगी, परन्तु पाठकों को निम्न लिखित पुस्तकों से तो परिचित होना ही चाहिए—

Plato: The Republic. (Jowett's translation, Oxford University Press).

Aristotle: Politics. (Jowett's translation, Ed. Davis Oxford).

Augustine: The City of God.

Dante: De Monarchia.

Hobbes: Leviathan. (Ed. Pogson-Smith, Oxford University Press).

Locke: Second Treatise on Government. (Everyman's Library).

Rousseau : The Social Contract. (Allen & Unwin) The best edition is that in French by Dreyfus-Brisac, Paris, Alcan.

Burke: Reflections on the French Revolution (Ed. Payne, Oxford).

Mill : On Liberty and Representative Government. (Everyman's Library),

T. H. Green : Principles of Political Obligation (Longmans Green & Co).

Marx and Angels: The Communist Manifesto. (Laurence). The best edition is that in French by C, Andler, Paris, Rieder).

अधिक आधुनिक विवेचन निम्न लिखित पुस्तकों में से अध्ययन किया जा सकता है।

G. D. H. Cole : Social Theory (London, Methuen).

R, M. Maciver: The Modern State. (London, Oxford University Press.).

H. J. Laski : Liberty in the Modern State. (London, Faber and Faber).

Hugh Cecil, Lord: Conservatism. (Thornton Butterworth).

W. Y. Elliott : The Pragmatic Revolt in Politics (Macmillan).

L. Duguit : Law in the Modern State. (Allen and Unwin)

L. T. Hobhouse : The Metaphysical Theory of the State. (Allen & Unwin).

H. Kelsen : Allgemeine Staatslehre (Berlin).

Carre' de Malberg : Theorie Generale de l'Etate, (Paris, Sirey).

R.H. Tawney: The Acquisitive Society. (Geo. Bell & Son.) Equality, (Allen & Unwin).

विशेष शब्दों का अनुवाद

Imperatives	विधि-निदेश
Precepts	नीति-निदेश
Guarantee	अभिवचन
Assurance	प्रतिज्ञान
Competence	अधिकार-क्षेत्र, अधिकार-शक्ति
Judiciary	न्यायकारिणी
Jury	सहायक-न्याय-मण्डल
Two-Chamber System	द्वि-खण्ड प्रणाली
Allegiance	निष्ठा
Vote	मत
Suffrage	मताधिकार
Sovereign	सर्वोपरि
Procedure	जाब्ता
Process	क्रम
Nomination	नियोजना
Unitary	एक घटकात्मक

Federal	बहु-घटकात्मक, सङ्घीय
Referendum	उपस्थित प्रस्ताव पर सार्वजनिक सम्मति-निर्धारण की विधि
Initiative	मौलिक प्रस्ताव उपस्थित कर सकने की विधि
Record	लेख-प्रमाण
Registration	लेखेन-प्रमाणित करना
Mandate	शासन-निदेश
Sanction	पालन कारयित्री शक्ति
Plebian	साधारण जन
Patrician	कुलीन जन
Law	क़ानून
Jurisprudence	न्याय-विज्ञान
Civil Service	सेवा-श्रेणी
Democracy	प्रजातन्त्रवाद

'नवजीवनमाला' की पुस्तकें

१—गीताबोध—महात्मा गाँधी कृत गीता का सरल तात्पर्य —)॥
२—मंगल प्रभात—महात्मा गाँधी के जेल से लिखे सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि पर प्रवचन —)॥
३—अनासक्तियोग—महात्मा गाँधी कृत गीता की टीका— =)
श्लोक सहित ≡) सजिल्द ।)
४—सर्वोदय—रस्किन के Unto This Last का गाँधीजी द्वारा किया गया रूपान्तर— —)
५—नवयुवकों से दो बातें—प्रिंसक्रोपाटकिन के 'A word to young men' का अनुवाद— —)
६—हिन्द-स्वराज्य—महात्माजी की भारत की मौजूदा समस्या पर लिखी प्राचीन पुस्तक जो आज भी ताज़ी है— ≡)
७—छूतछात की माया—खानपान सम्बन्धी नियमों तथा व्यवहार के बारे में श्री आनन्द कौसल्यायन की लिखी दिलचस्प पुस्तक —)
८—किसानों का सवाल—ले० डॉ० अहमद की इस छोटी-सी पुस्तिका में भारत के इन ग़रीब प्रतिनिधियों के सवाल पर बड़ी सुन्दरता से विचार किया गया है। हरेक भारतीय को इसको समझना और पढ़ना चाहिए। ।)
९—ग्राम-सेवा—आजकल जिधर देखो उधर ग्राम-सेवा की ही चर्चा सुनाई देती है—पर वह ग्राम-सेवा किस प्रकार हो—इसपर गाँधीजी ने इसमें विपद प्रकाश डाला है— —)
१०—खादी और गादी की लड़ाई—ले० आचार्य विनोबा =)

'लोक साहित्य माला' की पुस्तकें

१—गाँवों की कहानी	(स्व० गौड़जी)	॥)
२—महाभारत के पात्र—१	(नाना भाई)	॥)
३—संतवाणी	(वियोगी हरि)	॥)
४—अंग्रेज़ी राज में हमारी दशा	(डॉ० अहमद)	॥)
५—लोक-जीवन	(काका कालेलकर)	॥)